[2006] 3 उम. नि. प. 85

राजस्थान राज्य और अन्य

बनाम

बसंत नहाटा

7 सितंबर, 2005

न्यायमूर्ति अशोक भान और न्यायमूर्ति एस. बी. सिन्हा

संविदा अधिनियम, 1872 (1872 का 9) – धारा 23 – 'लोक नीति' – 'लोक नीति के विरुद्ध' की संकल्पना का निर्वचन – लोक नीति के विरुद्ध क्या है यह बात संव्यवहार की प्रकृति पर निर्भर करता है और न्यायालय द्वारा उसके समक्ष लाई गई तथ्य सामग्री के आधार पर इस संकल्पना का निर्णय किया जा सकता है कि सुसंगत समय लोगों के लिए क्या बेहतर अथवा हानिकर है और लोक हित में क्या है और क्या नहीं है ।

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) – धारा 22-क [राजस्थान राज्य द्वारा 1976 के राजस्थान अधिनियम सं. 16 द्वारा यथा-अंतःस्थापित] [सहपठित संविधान, 1950 का अनुच्छेद 14, 246 और 300-क, संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 23 और मुख्तारनामा अधिनियम, 1882 की धारा 2] – दस्तावेज जिनका रजिस्ट्रीकरण लोक नीति के विरुद्ध है – राज्य सरकार की किसी दस्तावेज को लोक नीति के विरुद्ध घोषित करने की शक्ति – राज्य सरकार द्वारा धारा 22-क के अधीन प्रदत्त शक्ति के आधार पर ऐसे किसी मुख्तारनामे को, जिसके द्वारा अटर्नी को ऐसी कोई स्थावर संपत्ति तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिए या किसी अवधि का उल्लेख किए बिना अंतरित की जाए, लोक नीति के विरुद्ध घोषित करने संबंधी अधिसूचना जारी किया जाना – धारा 22-क की शक्तिमत्ता – ऐसा कोई अधीनस्थ विधान विधिमान्य नहीं है जो मूलभूत विधि के अधीन किसी कानूनी मार्गदर्शक सिद्धांत द्वारा समर्थित न हो और विधिक अधिकार के प्रवर्तन के विरुद्ध हो ।

कानूनों का निर्वचन – समनुषंगी नियम – उपधारणा – किसी कानून या उपबंधों की सांविधानिकता की उपधारणा तब लागू होती है जब उपबंध के दो अर्थ निकाले जाने संभव हों और जो अर्थ उसके विधिमान्य होने के पक्ष में है वही स्वीकार्य होगा किंतु यदि यह स्पष्ट रूप से दर्शित

होता है कि वह कानून असांविधानिक है तो उपधारणा प्रवर्तन में नहीं रहेगी ।

कानूनों का निर्वचन – अधिनियम के अंतर्गत उपलब्ध आंतरिक सहायता – यदि किसी अस्पष्ट और संदिग्ध उपबंध के एक से अधिक अर्थ निकलते हों तो उस उपबंध के सही अर्थ का पता लगाने में आंतरिक सहायता अर्थात् उद्देश्यों और कारणों का कथन, उद्देशिका और अधिनियम के अन्य उपबंध सहायक हैं तो उन पर विचार किया जाना चाहिए किंतु उनका उपयोग ऐसे किसी पद का प्रयोग करने में नहीं किया जाना चाहिए जिससे कोई निश्चित अर्थ न निकलता हो ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 14, 245 और 246 [सहपठित प्रशासनिक विधि] – विधायी कृत्य/शक्ति का प्रत्यायोजन – अनिवार्य विधायी कृत्यों को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता है, अतः विधानमंडल केवल आनुषंगिक और प्रक्रियागत शक्तियों का प्रत्यायोजन कर सकता है न कि किसी अनिवार्य विधायी विषय का और इस संबंध में निर्णय अनुच्छेद 14 और 246 की कसौटी पर किया जाना चाहिए ।

इस अपील में का प्रत्यर्थी बीकानेर शहर का निवासी है । वह जिला बीकानेर स्थित कृषि भूमि का खातेदार अभिधारी था । उसने सुखदेव सिंह नामक एक व्यक्ति को अपना अटर्नी (मुखतार) नियुक्त करके उसे अपनी भूमियों की देखरेख करने, उसमें खेती करने तथा अन्य सभी कार्य, विलेख तथा चीजें करने के लिए, जिनके अन्तर्गत उन्हें बंधक रखना या बेचना भी है, अपेक्षित विलेखों और दस्तावेजों को रजिस्ट्रीकृत कराने के लिए तारीख 16 जुलाई, 1999 के मुख्तारनामा विलेख द्वारा प्राधिकृत किया था । वह विलेख रजिस्ट्रीकरण के लिए बीकानेर के उप-रजिस्ट्रार के समक्ष 30 जुलाई, 1999 को प्रस्तुत की गई थी । उस दस्तावेज पर यह पृष्ठांकन करते हुए रजिस्ट्रीकरण से इनकार कर दिया गया था कि उसे तारीख 1 अप्रैल, 1999 को राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित तारीख 26 मार्च, 1999 की सरकारी अधिसूचना (22 अप्रैल, 1999 को यथासंशोधित) के अनुसार रजिस्ट्रीकृत नहीं किया जा सकता । उस अधिसूचना द्वारा और उसके अधीन ऐसे दस्तावेजों का रजिस्ट्रीकरण "लोकनीति के विरुद्ध" होने के कारण प्रतिषिद्ध कर दिया गया है । उक्त अधिसूचनाएं कथित रूप से राजस्थान राज्य द्वारा अधिनियम की धारा 22-क के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए निकाली गई थीं । इसमें के प्रत्यर्थी ने राजस्थान उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके राजस्थान

विधानमंडल द्वारा यथाअन्तःस्थापित अधिनियम की धारा 22-क और ऊपरवर्णित अधिसूचनाओं को सांविधानिकता को भी प्रश्नगत किया है । राजस्थान उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय के द्वारा राजस्थान संशोधन अधिनियम, 1976 (1976 का अधिनियम संख्या 16) द्वारा यथा-अंतःस्थापित अधिनियम की धारा 22-क को असांविधानिक घोषित कर दिया और परिणामतः रिट याचिका के उपाबंध 3,4,6 और 7 में यथा-अन्तर्विष्ट अधिसूचनाओं को भी अभिखंडित कर दिया । उप-रजिस्ट्रार को भी यह निदेश दिया गया कि तारीख 16 जुलाई, 1999 के मुख्तारनामा को, जो तारीख 30 जुलाई, 1999 को प्रस्तुत किया गया था, आदेश की प्रति प्रस्तुत किए जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर रजिस्ट्रीकृत किया जाए । उच्च न्यायालय ने अपने आक्षेपित निर्णय में, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम की धारा 22-क द्वारा राज्य सरकार को यह घोषित करने के बारे में कि कोई विशिष्ट दस्तावेज लोकनीति के विरुद्ध है, अवधारित करने की मनमानी शक्तियां प्रदत्त की गई हैं । उसका मत था कि इस प्रश्न का अवधारण कि कोई संव्यवहार लोकनीति के विरुद्ध है अथवा नहीं, केवल न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है न कि उप-रजिस्ट्रार द्वारा । आक्षेपित विधान सम्पत्ति के बारे में व्यवहार करने के नागरिक के अधिकार पर अतिक्रमण करता है और इस प्रकार पूर्णतया मनमाना और अयुक्तियुक्त है । आक्षेपित विधान द्वारा किसी दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण का उद्देश्य पूरा नहीं होता है । यह अधिनियम विलेखों और दस्तावेजों के बारे में है न कि संव्यवहारों के बारे में तथा विषय की इस दृष्टि से दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण न कराया जाना अपने-आप में लोकनीति के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता । इस अपील में, राजस्थान राज्य द्वारा यथासंशोधित रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 22-क की सांविधानिकता को और उसके निबंधनानुसार निकाली गई अधिसूचनाओं को भी प्रश्नगत किया गया है । यह अपील जोधपुर स्थित राजस्थान उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है ।

अभिनिर्धारित – यह दलील देना सही नहीं होगा कि लोक नीति की कोई एक निश्चित परिभाषा दी जा सकती है । "लोक नीति के विरुद्ध" क्या है, यह संव्यवहार की प्रकृति पर निर्भर करेगा । पक्षकारों के अभिवचन और अभिलेख पर लाई गई सामग्री सुसंगत होगी जिससे न्यायालय यह आकलन कर सके कि सरकार विशेष की नीति के यथा विपरीत लोक

कल्याण या लोक हित में क्या है अथवा सुसंगत कालबिंदु पर लोक कल्याण या लोकहित के लिए क्या क्षतिकारक या हानिकारक होगा । किसी नागरिक के अधिकारों से संबंधित विधि स्पष्ट और असंदिग्धार्थी होनी चाहिए । लोक नीति का सिद्धांत कामन लॉ की एक शाखा में अन्तर्विष्ट है, यह पूर्व निर्णयों (नजीरों) से शासित होता है । इन सिद्धांतों को विभिन्न शीर्षों के अन्तर्गत सुस्पष्ट किया गया है और यद्यपि न्यायालयों के लिए उनका प्रतिपादन करना और उन्हें विभिन्न स्थितियों में लागू करना संभव हो सकता है फिर भी यह सामान्य बात है कि लोगों को नुकसान पहुंचाने वाले स्पष्ट और अकाट्य मामलों में उक्त सिद्धांत का सहारा नहीं लिया जाना चाहिए यद्यपि यह विषय खुला है और सैद्धांतिक तौर पर परिवर्तनशील विश्व में आपवादिक परिस्थितियों के अन्तर्गत एक नया शीर्ष तैयार किया जा सकता है । किसी संविदा का "लोकहित के विरुद्ध" होना संविदा अधिनियम की धारा 23 के अधीन एक प्रतिवाद है और न्यायालयों को, संविदा की विधिमान्यता पर विनिश्चय करते समय निम्न बातों पर विचार करना होता है (क) सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6 के निबंधनों के अनुसार अभिवचन । (ख) मामले में लागू होने वाला कानून । (ग) भारत के संविधान के भाग 3 और 4 के उपबंध । (घ) विशेषज्ञ साक्ष्य, यदि कोई हो । (ङ) मामले के अभिलेख पर लाई गई सामग्री । (च) अन्य सुसंगत कारक, यदि कोई हों । तथापि, राज्य का विधानमंडल यह अधिकथित कर सकता है कि कौन-कौन से कृत्य समाज के लिए घातक होने के कारण अनैतिक होंगे । ऐसे विधान की प्रकृति अधिष्ठायी होने के कारण उसे विनिर्दिष्ट तौर पर विधायी मंजूरी मिलनी चाहिए न कि अधीनस्थ विधान या कार्यपालिक अनुदेशों के माध्यम से । 'लोक नीति के विरुद्ध' पदावली के अन्तर्गत ऐसे कृत्य आ सकते हैं जिनसे लोक नैतिकता का पतन होना, उसे भ्रष्ट करना या क्षति पहुंचाना संभाव्य है और इस प्रकार वे अनिवार्यतः विधायी नीति के विषय होने चाहिएं । (पैरा 39, 40, 42, 44 और 45)

भारतीय संविदा अधिनियम एवं मुख्तारानामा अधिनियम के उपबंधों के निबंधनों के अनुसार मुख्तारनामे का निष्पादन विधिमान्य है । मुख्तारनामे का निष्पादन दाता द्वारा किया जाता है जिससे कि आदाता उसकी ओर से कार्य कर सके । उन स्थितियों को छोड़कर, जिनमें मुख्तारनामा हित से जुड़ा होता है, यह प्रतिसंहरणीय होता है । आदाता, ऐसे मुख्तारनामे के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए केवल दाता के स्थान पर कार्य करता है जो निःसंदेह उसके द्वारा उसे दी गई शक्तियों के अधीन होता

है । वह अपने फायदे के लिए मुख्तारनामे का प्रयोग नहीं कर सकता । वह एक वैश्वासिक हैसियत में कार्य करता है । अविश्वास या न्यासभंग का कोई कार्य दाता और अदाता के बीच का मामला होता है । राजस्थान राज्य ने अधिनियम में धारा 17(1)(च) और (छ) को अन्तःस्थापित करके स्थावर संपत्ति के अंतरण से संबंधित विक्रय करार और अप्रतिसंहरणीय मुख्तारनामा के रजिस्ट्रीकरण को एक तरह से अनिवार्य रूप से रजिस्ट्रीकरणीय दस्तावेज बना दिया । राज्य ने आगे स्टाम्प अधिनियम, 1899 की द्वितीय अनुसूची के अनुच्छेद 23 को संशोधित करके स्थावर संपत्ति के विक्रय करार और अप्रतिसंहरणीय मुख्तारनामा को या हस्तांतरण के अनुक्रम में जो सकब्जा हो, निष्पादित किसी अन्य लिखत आदि को हस्तांतरण के रूप में समझा जाने वाला बना दिया और उस पर तदनुसार स्टाम्प शुल्क प्रभार्य बना दिया है । राज्य के अनुसार, ऐसी अधिनियमितियों के बावजूद विक्रेता द्वारा संपत्ति को बेचने के अधिकार सहित मुख्तारनामे के आधार पर विक्रय किए जा रहे थे और ऐसे मुख्तारनामे अविनिर्दिष्ट कालावधि के लिए निष्पादित किए जा रहे थे । संविदा करने में समर्थ दो व्यक्तियों के बीच संव्यवहार, जिससे किसी कानून का उल्लंघन नहीं होता है, विधि की दृष्टि में विधिमान्य होता है । राजस्थान राज्य द्वारा ऐसे संव्यवहारों को अवैध नहीं बनाया गया । भारतीय संविदा अधिनियम या मुख्तारनामा अधिनियम का संशोधन नहीं किया गया है । अतः मुख्तारनामे का निष्पादन अपने-आप में अवैध नहीं है । उन मामलों के सिवाय, जो धारा 17(1)(छ) या धारा 17(1)(ज) के अन्तर्गत आते हैं, मुख्तारनामे का रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य नहीं है । भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 32 और 33 के अधीन भी ऐसे किसी रजिस्ट्रीकरण को वर्जित नहीं किया गया है । यह अधिनियम केवल दस्तावेजों पर प्रहार करता है न कि संव्यवहारों पर । अधिनियम का सम्पूर्ण उद्देश्य दस्तावेजों को शासित करना है न कि संव्यवहारों को जो उसमें सन्निविष्ट हैं । ऐसा करके केवल जनता का ध्यान खींचा गया है । इस प्रकार अधिनियम की धारा 22-क अधीनस्थ विधान के माध्यम से उन संव्यवहारों को नियंत्रित नहीं कर सकती जो उसकी परिधि में नहीं आते हैं । भारतीय संविदा अधिनियम या मुख्तारनामा अधिनियम के अधीन अटर्नी की शक्ति के प्रभाव की अवेक्षा किए जाने पर इस न्यायालय की यह राय है कि ऐसा कोई अधीनस्थ विधान जो मूलभूत विधि के अधीन किसी भी कानूनी दिशानिर्देश से समर्थित नहीं है और विधिक अधिकार के प्रवर्तन के प्रतिकूल है, विधिमान्य नहीं होगा । इस प्रश्न पर दूसरे पहलू से विचार किया जा सकता है । हो सकता है किसी व्यक्ति का कोई निकट नातेदार

न हो या अन्यथा वह उपरजिस्ट्रार या रजिस्ट्रार के कार्यालय में, जिसकी अधिकारिता के अंतर्गत वह संपत्ति स्थित हो, उपस्थित होने में असमर्थ हो । हो सकता है वह देश से बाहर हो । उसे किसी संसदीय या विधायी अधिनियम में अन्तर्विष्ट किन्हीं मूलभूत उपबंधों के अभाव में अपनी इच्छा से किसी भी रीति में अपनी सम्पत्ति के संबंध में व्यवहार करने से रोका नहीं जा सकता । ऐसा कानूनी निषेध, जैसा कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 300क द्वारा यथा परिकल्पित है किसी के कानूनी अधिकार के प्रतिकूल होगा । इस प्रकार यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समय निश्चितता के साथ लोक नीति को परिभाषित करना संभव नहीं है । इन विषम बातों से निपटने का काम कार्यपालिका का नहीं है क्योंकि उक्त शक्ति न्यायपालिका के पास है । जब कभी "लोक नीति" की संकल्पना के निष्कर्ष पर विचार किया जाना अपेक्षित हो तो ऐसा करना न्यायपालिका का काम है और ऐसा करते समय न्यायपालिका की शक्ति भी बहुत सीमित है । उक्त प्रयोजन के लिए भी, संविदा अधिनियम की धारा 23 में लोक नीति वाले भाग का अर्थान्वयन उसके अन्य भागों को साथ जोड़कर किया जाना चाहिए । ऐसी कोई चीज जो अपने-आप में इतनी अनिश्चित हो, वह किसी भी चीज के लिए मार्गदर्शक नहीं हो सकती अथवा उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कार्यपालिका के लिए उसके अधीन काम करने की बाबत पर्याप्त रूपरेखा सुलभ कराती है । विधानमंडल के अनिवार्य कृत्यों को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता और इसका निर्णय संविधान के अनुच्छेद 14 और 246 की कसौटी पर किया जाना चाहिए । इस प्रकार केवल समनुषंगी और प्रक्रियागत शक्तियां ही प्रत्यायोजित की जा सकती हैं न कि अनिवार्य विधायी विषय । (पैरा 53, 54, 55, 59, 60, 61, 63, 64 और 66)

यह निर्विवाद है कि किसी कानून की सांविधानिकता के विषय में उपधारणा की जाती है । किंतु सांविधानिकता के पक्ष में उपधारणा का सिद्धांत केवल सबूत के भार के स्थान बदलता है और इसे उस व्यक्ति के कंधों पर डालता है जो उस पर आक्षेप करता है । यह दर्शित करना उस व्यक्ति का काम है कि सांविधानिक सिद्धांतों का स्पष्ट अतिलंघन हुआ है। किन्तु यह सिद्धांत इस परिसीमा के अधीन है कि यह तब तक प्रवर्तित रहता है जब यह स्पष्ट और युक्तियुक्त संदेह से परे सिद्ध हो जाता है कि विधानमंडन ने अपनी सीमाओं को लांघा है । अर्थान्वयन के सिद्धांत के रूप में लागू इस नियम से यह अभिप्रेत होता है कि यदि दो अर्थ संभव हैं तो

न्यायालय उस अर्थ को नहीं अपनाएंगे जो उसे असांविधानिक बनाता है और उस अर्थ को स्वीकार करेंगे जो आक्षेपित विधान की विधिमान्यता को मान्य ठहराता है । इस प्रकार, उपधारणा का उक्त सिद्धांत आत्यंतिक सिद्धांत नहीं है बल्कि यह परिसीमाओं के अधीन भी है । निर्वचन में इसका उपयोग उस मतभेद को दूर करने के लिए किया जा सकता है जब दो निर्वचन संभव हों न कि तब जब केवल एक जो इस निष्कर्ष पर ले जाए कि प्रत्यायोजित विधान अनियंत्रित और अनुचित है । यदि उपबंध असांविधानिक हैं तो मात्र उपधारणा, जो सबूत के भार का विनिश्चय करती है, उन्हें व्यावृत्त नहीं रख सकती । (पैरा 16 और 18)

इसमें कोई भी संदेह नहीं हो सकता कि न्यायालय अनिवार्य विधायी कृत्य के प्रत्यायोजन के आधार पर या प्रत्यायोजिती को मार्गदर्शनहीन, अनियंत्रित और अस्पष्ट शक्तियां प्रदत्त करने के आधार पर अधिनियम की उद्देशिका एवं कानून के अन्य उपबंधों को भी, वे अतिवर्तनकारी कानून के अर्थ का पता लगाने के पर्याप्त साधन सुलभ कराते हैं, ध्यान में रखे बिना किसी विधान को अविधिमान्य नहीं ठहराएगा । किंतु उद्देशिका तथा उद्देश्य और कारणों के कथन पर तभी दृष्टिपात किया जा सकता है जब अधिनियम की भाषा में अस्पष्टता या संदिग्धार्थता विद्यमान हो । इस प्रकार, जब भाषा से एकाधिक अर्थ निकलने संभव हों तभी उद्देशिका तथा उद्देश्यों और कारणों के कथन पर विचार किया जा सकता है न कि तब जब किसी चीज का एक सुनिश्चित अर्थ न किया जा सके जैसाकि 'लोक नीति' की स्थिति में है । यदि उद्देश्यों और कारणों के कथन पर उसके अर्थ का पता लगाने के लिए विचार किया जाए तो भी उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो नैतिकता अथवा लोक नीति से सम्बद्ध कहा जा सके । इससे आगे हमें यह नहीं दर्शाया गया कि उद्देशिका या अधिनियम के कोई अन्य उपबंध अधिनियम की धारा 22-क का अर्थान्वयन करने में कोई मार्गदर्शन कैसे प्रदान करेंगे । (पैरा 31, 32 और 33)

विधानमंडल द्वारा अपनी शक्तियां कार्यपालिका के पक्ष में प्रत्यायोजित करने की आवश्यकता विधायी कृत्य का एक अंग है । यह संविधान के अनुच्छेद 245 के अधीन समग्र विधायी शक्ति का एक संघटक तत्व है । किन्तु शक्ति का ऐसा प्रत्यायोजन व्यापक, दिशाहीन या अनियंत्रित नहीं होना चाहिए । ऐसी शक्ति प्रत्यायोजित करते समय विधानमंडल से यह अपेक्षित होता है कि वह मानदंड या मानक निर्धारित करे जिससे कि प्रत्यायोजिती कानून की रूपरेखा के भीतर कार्य करने में समर्थ हो सके ।

विधानमंडल की शक्ति का प्रयोग जिस सिद्धांत पर किया जाना अपेक्षित है उसे प्रकट किया जाना चाहिए । यह भी सिद्धांत है कि अनिवार्य विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता । अतः सामान्यतया प्रक्रियागत शक्तियों का प्रयोग प्रत्यायोजित विधान द्वारा कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है । वाद में के उस पक्षकार को भी, जिसके विरुद्ध अवैधता का अभिवचन किया जाता है, अपनी स्वयं की प्रतिरक्षा करने का अवसर मिलता है । इस प्रकार लोक नीति क्या है इसका विनिश्चय करने का अनिवार्य कृत्य अधीनस्थ विधान के माध्यम से कार्यपालिका को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता है । एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि क्या शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, न्यायपालिका के अनन्य क्षेत्राधिकार में अनिवार्यतः जो कुछ है वह कार्यपालिका को प्रत्यायोजित किया जा सकता है जब तक कि उसके पीछे नीति अन्तिम रूप से अधिकथित न हो । ऐसी कोई चीज जो अपने-आप में इतनी अनिश्चित हो, वह किसी भी चीज के लिए मार्गदर्शक नहीं हो सकती अथवा उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कार्यपालिका के लिए उसके अधीन काम करने की बाबत पर्याप्त रूपरेखा सुलभ कराती है । विधानमंडल के अनिवार्य कृत्यों को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता और इसका निर्णय संविधान के अनुच्छेद 14 और 246 की कसौटी पर किया जाना चाहिए । इस प्रकार केवल समनुषंगी और प्रक्रियागत शक्तियां ही प्रत्यायोजित की जा सकती हैं न कि अनिवार्य विधायी विषय । (पैरा 19, 20, 43, 65 और 66)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2005]	(2005) 5 एस. सी. सी. 632 : **जोरोस्ट्रियन कोआपरोटिव हाउसिंग सोसाइटी लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **जिला रजिस्ट्रार सहकारी सोसाइटियां (नगरीय) और अन्य ;**	41
[2004]	(2004) 2 एस. सी. सी. 657 : **आंध्र बैंक** बनाम **बी. सत्यनारायन और अन्य ;**	21,31

[2004]	(2004) 2 एस. सी. सी. 476 : **पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	31
[2004]	[2004] 7 एस. सी. सी. 68 : **गोडवाट पान मसाला प्रोडक्ट्स आई. पी. लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारत संध और अन्य** ;	34
[2004]	(2004) 8 एस. सी. सी. 524 : **क्लेरियंट इण्टरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड** ;	68
[2003]	(2003) 7 एस. सी. सी. 151 : **कृष्ण मोहन (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **दिल्ली नगर निगम और अन्य** ;	24
[2003]	(2003) 5 एस. सी. सी. 705 : **आयल एंड नेचुरल गैस कारपोरेशन लिमिटेड** बनाम **सॉ पाइप्स लिमिटेड** ;	62
[2003]	(2003) 3 एस. सी. सी. 186 : **सेल्युलर आपरेटर्स एसोसिएशन आफ इंडिया और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	68
[2001]	(2001) 5 एस. सी. सी. 212 : **किशन प्रकाश शर्मा और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	25
[2001]	ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 72 = (2001) 4 एस. सी. सी. 139 : **भारत संघ** बनाम **एल्फिनस्टोन स्पिनिंग एंड वीविंग कंपनी लिमिटेड और अन्य** ;	17
[2000]	(2000) 5 एस. सी. सी. 488 : **अरनित दास** बनाम **बिहार राज्य** ;	31
[1998]	(1998) 8 एस. सी. सी. 188 : **केरल राज्य और अन्य** बनाम **ट्रावनकोर कैमिकल्स एंड मैन्युफैक्चरिंग कंपनी और एक अन्य** ;	35

[1997] (1997) 5 एस. सी. सी. 516 :
कृषि विपणन समिति बनाम **शालीमार कैमिकल्स वर्क्स लिमिटेड** ; 26

[1994] (1994) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 644 :
रेणु सागर पावर कंपनी लिमिटेड बनाम **जनरल इलेक्ट्रिक कंपनी** ; 62

[1991] [1991] 3 उम. नि. प. 674 =(1991) 3 एस. सी. सी. 67 :
रतन चन्द हीरा चन्द बनाम **अस्कर नवाजजंग (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के द्वारा और अन्य** ; 46

[1990] [1990] 1 उम. नि. प. 666 = (1989) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 430 :
रमेश विर्क और अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य** ; 27

[1986] (1986) 3 एस. सी. सी. 156 :
सेंट्रल इनलैंड वाटर ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन लिमिटेड और एक अन्य बनाम **ब्रजनाथ गांगुली और एक अन्य** ; 46

[1984] (1984) 3 एस. सी. सी. 127 :
अजय कुमार बनर्जी और अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य** ; 26

[1980] (1980) सप्ली. एस. सी. सी. 375 :
सेठ नंदलाल और एक अन्य बनाम **हरियाणा राज्य और अन्य** ; 29

[1966] (1966) 2 क्वींस बैंच 633 :
नेगल बनाम **फील्डेन** ; 50

[1960] (1960) 34 ए. एल. जे. आर. 413 :
न्यूकेसल डायोसीज (चर्च प्रोपर्टी ट्रस्टीज) बनाम **एबेक** ; 50

[1960] ए. आई. आर. 1960 मद्रास 274 :
सैयद अब्दुल्ला साहिब बनाम **सैयद रहमतुल्ला साहिब** उर्फ **बाजी साहिब और अन्य** ; 58

[1960] ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 554 :
हमदर्द दवाखाना और एक अन्य बनाम **भारत संघ और अन्य** ; 24

[1959] ए. आई. आर. 1959 एस. सी. 781 = [1959] सप्ली. 2 एस. सी. आर. 406 :
घेरूलाल पारेख बनाम **महादेवदास मैया और अन्य** ; 40

[1957] ए. आई. आर. 1957 मद्रास 472 :
के. पंचपगेसा अय्यर और एक अन्य बनाम **के. कल्याण सुंदरम् अय्यर और अन्य** ; 57

[1955] [1955] 1 एस. सी. आर. 290 :
राजनारायन सिंह बनाम **अध्यक्ष, पटना प्रशासन समिति, पटना और एक अन्य** ; 23

[1951] [1951] एस. सी. आर. 747 :
दिल्ली विधि अधिनियम, 1912 वाले मामले ; 21

[1951] ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 41 = [1950] एस. सी. आर. 869 :
चरनजीत लाल चौधरी बनाम **भारत संघ और अन्य** ; 16

[1936] ए. आई. आर. 1936 पी. सी. 230 :
एम. ई. मूला सन्स लिमिटेड (समापनाधीन) बनाम **शासकीय समनुदेशिती, रंगून और अन्य** । 56

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2001 की सिविल अपील संख्या 7800.

1999 की खंड न्यायपीठ सिविल रिट याचिका संख्या 3554 में राजस्थान उच्च न्यायालय के तारीख 28 नवम्बर, 2000 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री अरुणेश्वर गुप्त और नवीन कुमार सिंह

प्रत्यर्थी की ओर से	सुश्री मंजीत चावला
गुजरात राज्य की ओर से	श्री यशंक अध्यारू (वरिष्ठ अधिवक्ता), सुश्री हेमंतिका वाही, श्री बाबी अगस्टाइन तथा श्री ऋत्विक पंडा
कर्नाटक राज्य की ओर से	सर्वश्री संजय आर. हेगड़े, अनिल के. मिश्र और ए. रोहन सिंह
महाराष्ट्र राज्य की ओर से	श्री यू. यू. ललित (वरिष्ठ अधिवक्ता), सुश्री पिंकी आनंद (झारखंड राज्य की ओर से भी), श्री रवीन्द्र केशवराव अदसुर
मेघालय राज्य की ओर से	सर्वश्री मनीष मोहन, अमन सिन्हा, डी. के. सिन्हा, उग्र शंकर प्रसाद
बिहार राज्य की ओर से	सर्वश्री कुमार राजेश सिंह और बी. बी. सिंह
झारखंड राज्य की ओर से	सर्वश्री डी. एन. गोवर्धन, राजेश पाठक और श्री अरूप बनर्जी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एस. बी. सिन्हा ने दिया ।

न्या. सिन्हा – इस अपील में, राजस्थान राज्य द्वारा यथासंशोधित रजिस्ट्रीकरण अधिनियम (संक्षेप में 'अधिनियम') की धारा 22-क की सांविधानिकता को और उसके निबंधनानुसार निकाली गई अधिसूचनाओं को भी प्रश्नगत किया गया है । यह अपील 1999 की खंड न्यायपीठ सिविल रिट याचिका संख्या 3554 में जोधपुर स्थित राजस्थान उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा पारित तारीख 28 नवम्बर, 2000 के निर्णय और आदेश विरुद्ध फाइल की गई है ।

तथ्य

2. इस अपील में का प्रत्यर्थी बीकानेर शहर का निवासी है । वह चेक संख्या 13 के.वाई.डी. स्कवेयर संख्या 110/24, किल्ला संख्या 1 से 25 बीघा, तहसील खाजुवाला, जिला बीकानेर स्थित कृषि भूमि का खातेदार अभिधारी था । उसने सुखदेव सिंह नामक एक व्यक्ति को अपना अटर्नी (मुख्तार) नियुक्त करके उसे अपनी भूमियों की देखरेख करने, उसमें खेती करने तथा अन्य सभी कार्य, विलेख तथा चीजें करने के लिए, जिनके अन्तर्गत उन्हें बंधक रखना या बेचना भी है, अपेक्षित विलेखों और दस्तावेजों

को रजिस्ट्रीकृत कराने के लिए तारीख 16 जुलाई, 1999 के मुख्तारनामा विलेख द्वारा प्राधिकृत किया था । वह विलेख रजिस्ट्रीकरण के लिए बीकानेर के उप-रजिस्ट्रार के समक्ष 30 जुलाई, 1999 को प्रस्तुत की गई थी । उस दस्तावेज पर यह पृष्ठांकन करते हुए रजिस्ट्रीकरण से इनकार कर दिया गया था कि उसे तारीख 1 अप्रैल, 1999 को राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित तारीख 26 मार्च, 1999 की सरकारी अधिसूचना (22 अप्रैल, 1999 को यथासंशोधित) के अनुसार रजिस्ट्रीकृत नहीं किया जा सकता । उस अधिसूचना द्वारा और उसके अधीन ऐसे दस्तावेजों का रजिस्ट्रीकरण "लोकनीति के विरुद्ध" होने के कारण प्रतिषिद्ध कर दिया गया है । उक्त अधिसूचनाएं कथित रूप से राजस्थान राज्य द्वारा अधिनियम की धारा 22-क के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए निकाली गई थीं ।

3. इसमें के प्रत्यर्थी ने राजस्थान उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके राजस्थान विधानमंडल द्वारा यथा अन्तःस्थापित अधिनियम की धारा 22-क और ऊपरवर्णित अधिसूचनाओं को सांविधानिकता को भी प्रश्नगत किया है ।

उच्च न्यायालय

4. राजस्थान उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय के द्वारा राजस्थान संशोधन अधिनियम, 1976 (1976 का अधिनियम संख्या 16) द्वारा यथा अन्तःस्थापित अधिनियम की धारा 22-क को असांविधानिक घोषित कर दिया और परिणामतः रिट याचिका के उपाबंध 3,4,6 और 7 में यथा अन्तर्विष्ट अधिसूचनाओं को भी अभिखंडित कर दिया । उपरजिस्ट्रार को भी यह निदेश दिया गया कि तारीख 16 जुलाई, 1999 के मुख्तारनामा को, जो 30 जुलाई, 1999 को प्रस्तुत किया गया था, आदेश की प्रति प्रस्तुत किए जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर रजिस्ट्रीकृत किया जाए ।

5. उच्च न्यायालय ने अपने आक्षेपित निर्णय में, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम की धारा 22-क द्वारा राज्य सरकार को यह घोषित करने के बारे में कि कोई विशिष्ट दस्तावेज लोकनीति के विरुद्ध है, अवधारित करने की मनमानी शक्तियां प्रदत्त की गई हैं । उसका मत था कि इस प्रश्न का अवधारण कि कोई संव्यवहार लोकनीति के विरुद्ध है अथवा नहीं, केवल न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है न कि उपरजिस्ट्रार द्वारा । आक्षेपित विधान सम्पत्ति के बारे में व्यवहार करने के नागरिक के अधिकार पर अतिक्रमण करता है और इस

प्रकार पूर्णतया मनमाना और अयुक्तियुक्त है.। आक्षेपित विधान द्वारा किसी दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण का उद्देश्य पूरा नहीं होता है । यह अधिनियम विलेखों और दस्तावेजों के बारे में है न कि संव्यवहारों के बारे में तथा विषय की इस दृष्टि से दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण न कराया जाना अपने आप में लोकनीति के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ।

अधिनियम की धारा 22-क और अधिसूचनाएं

6. अधिनियम की धारा 22-क निम्न प्रकार है :

"22-क. **ऐसे दस्तावेज, जिनका रजिस्ट्रीकरण लोकनीति के विरुद्ध है** – (1) राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, यह घोषणा कर सकेगी कि किसी दस्तावेज या दस्तावेजों के वर्ग का रजिस्ट्रीकरण लोकनीति के विरुद्ध है ।

(2) इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, रजिस्ट्रीकरण अधिकारी ऐसे किसी दस्तावेज को रजिस्टर करने से इनकार कर देगा, जिसके संबंध में उपधारा (1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना लागू होती है ।"

7. रिट याचिका के उपाबंध 3, 4, 6 तथा 7 में अन्तर्विष्ट अधिसूचनाएं निम्न प्रकार हैं :

"उपाबंध 3

तारीख 1 अप्रैल 1999

'का. आ. 7. – भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का केन्द्रीय अधिनियम संख्या 16) की धारा 22-क, जैसे वह राजस्थान राज्य को लागू होती हो, द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार एतद्द्वारा यह घोषित करती है कि दस्तावेजों के निम्नलिखित वर्गों का रजिस्ट्रीकरण लोकनीति के विरुद्ध है ।

ऐसा कोई मुख्तारनामा, जिसके द्वारा अटर्नी को किसी स्थावर संपत्ति का, छह मास से अधिक अवधि के लिए या जो अप्रतिसंहरणीय है, उसका या जहां अवधि का उल्लेख नहीं है, अंतरण करने के लिए प्राधिकृत किया गया है ।'

[संख्या फा. 2(2) एफ.डी.टैक्स-डिवी./99-189]

राज्यपाल के आदेश से

ह./-

उप सचिव, सरकार"

"उपाबंध 4

तारीख 22 अप्रैल, 1999

'का. आ. 62. – रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का केंद्रीय अधिनियम संख्या 16) की धारा 22-क, जैसे वह राजस्थान राज्य को लागू होती है, द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिसूचना संख्या फा. 2[3] एफ.डी- टैक्स डिवी./99-189, तारीख 26 मार्च, 1999 को निम्न प्रकार संशोधित करना समीचीन है :

उपर्युक्त अधिसूचना में 'छह मास' पद के स्थान पर 'तीन वर्ष' पद रखा जाता है।

[स. फा. 2 (एफ.डी/टैक्स-डिवी./99-213]

राज्यपाल के आदेश से

ह./-

(शिखर अग्रवाल)

उप सचिव, सरकार"

"उपाबंध 16

तारीख 26 मार्च, 1999

का. आ. 484 – रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का केंद्रीय अधिनियम संख्या 16) की धारा 22-क, जैसे वह राजस्थान राज्य को लागू होती है, द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार एतद्द्वारा यह घोषित करती है कि निम्नलिखित दस्तावेजों में से किसी का भी रजिस्ट्रीकरण लोकनीति के विरुद्ध है :

ऐसा मुख्तारनामा जिसके द्वारा स्थावर संपत्ति के विक्रय विलेख, दान, बंधक अथवा अंतरण संबंधी किसी अन्य दस्तावेज का निष्पादन प्राधिकृत

किया गया हो, उप-रजिस्ट्रार या रजिस्ट्रार से, जिसके उप-जिले या जिले में संपत्ति का पूरा या कोई भाग, जिससे ऐसा मुख्तारनाम संबद्ध है, स्थित है, भिन्न किसी अधिकारी के समक्ष रजिस्ट्रीकरण के लिए प्रस्तुत किया जाना ।

[संख्या फा. 2(3) एफ.डी./टैक्स-डिवी./99-186]

राज्यपाल के आदेश से

ह./-

उप सचिव, सरकार"

उपाबंध 17

तारीख 22 अप्रैल, 1999

"का. आ. 60.– रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का केंद्रीय अधिनियम संख्या 16) की धारा 22-क, जैसे वह राजस्थान राज्य को लागू होती है, द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, अधिसूचना संख्या फा. 2[16] एफ.डी./टैक्स-डिवी./99-186, का. आ. 484, तारीख 26 मार्च, 1999 को लोकहित में निम्न प्रकार संशोधित करना समीचीन है :

संशोधन @@

'ऐसा मुख्तारनामा' शब्द के पश्चात् निम्नलिखित शब्द जोड़े जाते हैं :

'जो भाई या बहिन अथवा पुत्र या पुत्री अथवा माता या पिता अथवा पति या पत्नी अथवा पौत्र या पौत्री के पक्ष में निष्पादित मुख्तारनामा से भिन्न हो',

[संख्या फा. 2(3) एफ. डी./टैक्स-डिवी./99-212]

राज्यपाल के आदेश से

ह./-

उप सचिव, सरकार"

इस न्यायालय के समक्ष कार्यवाही

8. इस न्यायालय ने सुनवाई के दौरान इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि ऐसे ही संशोधन अन्य राज्यों द्वारा भी किए गए हैं और इसके व्यापक परिणाम होंगे, यह निदेश दिया कि बिहार, गुजरात, कर्नाटक,

महाराष्ट्र और मेघालय राज्यों को नोटिस जारी किया जाए । उक्त निदेशों के अनुसरण में आक्षेपकर्ता राज्य जिनमें महाराष्ट्र, गुजरात, झारखंड, मेघालय आदि राज्य आदि हैं, हाजिर हुए और उन्होंने अपने निवेदन प्रस्तुत किए ।

निवेदन

9. अपीलार्थी और आक्षेपकर्ता राज्यों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेलों ने अन्य के साथ-साथ निम्नलिखित दलीलें दीं :–

(i) उपधारणा कानून की विधिमान्यता के पक्ष में ही होती है और यह सिद्ध करना उस व्यक्ति का काम है जो अधिनियम की धारा 22-क की सांविधानिकता को आक्षेपित करते हुए मूल या अन्य अधिकारों के अतिक्रमण का अभिकथन करता है ।

(ii) किसी दस्तावेज के अनिवार्य रजिस्ट्रीकरण का निदेश देने और/या उसे रजिस्ट्रीकृत करने से इनकार करने संबंधी विधान चूंकि एक नीतिगत विषय है, जो राज्य को दस्तावेज या दस्तावेजों के वर्ग के रजिस्ट्रीकरण को विनियमित करने में समर्थ बनाता है, इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा उसमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता ।

(iii) 'लोकनीति के विरुद्ध' या 'लोकहित' पदों का भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 23, विदेशी पंचाट (मान्यता और प्रवर्तन) अधिनियम, 1961 की धारा 7(1)(ख)(ii), उत्तर प्रदेश किराया और बेदखली का अस्थायी नियंत्रण) अधिनियम, 1947 की धारा 3(1) तथा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 34(2)(ख)(ii) के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए निश्चित अर्थ है और इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि यह पूरी तरह मनमाना है ।

(iv) वरिष्ठ न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन की अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए किसी कानून को केवल इस आधार पर अविधिमान्य नहीं ठहराते कि विधानमंडल द्वारा अधीनस्थ विधान बनाने के लिए दिशानिर्देश अधिकथित नहीं किए गए हैं अथवा विधानमंडल ने अपना अनिवार्य विधायी कृत्य कार्यपालिका के पक्ष में त्यक्त कर दिया है किंतु किसी विशिष्ट मामले में वे राज्य द्वारा निकाली गई अधिसूचनाओं को ही तब अभिखंडित कर सकेंगे जब यह पाया जाए कि उसने इस निमित्त अपनी अधिकारिता का अतिलंघन किया है । जो भी हो, ऐसे दिशानिर्देश या तो उद्देशिका से या अधिनियम के अन्य

उपबंधों में देखे जा सकते हैं अतः इसका अतिवर्तनकारी उपबंध में ही उल्लेख करना जरूरी नहीं है ।

अधिनियम

10. यह अधिनियम दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित अधिनियमितियों का समेकन करने के लिए अधिनियमित किया गया था । उक्त अधिनियम के अधिनियमन से पूर्व, दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित उपबंध सात अलग-अलग अधिनियमितियों में थे । यह अधिनियम भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 2 की प्रविष्टि 18 और सूची 3 की प्रविष्टि 6 के निबंधनानुसार अधिनियमित किया गया था । यह मुख्यतः भारत में दस्तावेजों को रजिस्ट्रीकृत कराने की आवश्यकता के बारे में है ताकि वे विधिमान्य बनाए जा सकें और यदि उनका निष्पादन भारत के बाहर हुआ है तो भी उनके भारत में प्रथम बार पहुंचने पर उनके रजिस्ट्रीकरण के लिए उपबंध करने के लिए है ।

11. अधिनियम की धारा 17 में उन लिखतों का वर्णन किया गया है जिनका रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन अनिवार्य है जबकि धारा 49 में रजिस्टर न कराए जाने के परिणामों का उल्लेख किया गया है । तथापि, दस्तावेजों का रजिस्ट्रीकरण केवल स्थावर संपत्ति विषयक दस्तावेजों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अन्य विषयों के दस्तावेजों जैसे उदाहरणार्थ, दत्तकग्रहण के लिए भी है । अधिनियम की धारा 17 अन्य राज्यों के साथ-साथ राजस्थान राज्य द्वारा संशोधित की गई है । फिर भी, राजस्थान राज्य ने धारा 17(1)(च) और धारा 17(1)(छ) को 18 सितम्बर, 1989 से अंतःस्थापित किया और विक्रय करार और स्थावर संपत्ति के अंतरण विषयक मुख्तारनामा का रजिस्ट्रीकरण किसी भी प्रकार अनिवार्यतः रजिस्ट्रीकरण योग्य दस्तावेज बनाया । धारा 18 में उसमें विनिर्दिष्ट दस्तावेजों के वैकल्पिक रजिस्ट्रीकरण के लिए उपबंध है । धारा 22 में सरकारी मानचित्रों या सर्वेक्षण के निर्देश से मकानों और भूमि का वर्णन किए जाने का उपबंध है । फिर भी जैसाकि इसमें इससे पूर्व देखा गया था, अनेक राज्यों ने धारा 22-क अन्तःस्थापित की । इसकी उपधारा (1) के निबंधनों के अनुसार राज्य सरकारों को यह घोषित करते हुए अधिसूचना निकालने के लिए प्राधिकृत किया गया था कि किसी दस्तावेज या दस्तावेजों के वर्ग का रजिस्ट्रीकरण लोकनीति के विरुद्ध होगा । धारा 22-क की उपधारा (2) सर्वोपरि खंड के साथ इन शब्दों से प्रारंभ होती है कि अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी रजिस्ट्रीकरण अधिकारी

ऐसे किसी दस्तावेज को रजिस्टर करने से इनकार कर देगा जिसके संबंध में उपधारा (1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना लागू होती है ।

12. भाग 6 के अंतर्गत आने वाली धारा 32 में रजिस्ट्रीकरण के लिए दस्तावेजों के प्रस्तुत करने के लिए उपबंध किया गया है । धारा 33 उक्त प्रयोजन के लिए मान्य मुख्तारनामे के बारे में है । अधिनियम का भाग 11 रजिस्ट्रीकर्ता आफिसरों के कर्तव्यों और उनकी शक्तियों के विषय में है । भाग 12 उन दस्तावेजों के विषय में है जिनका रजिस्ट्रीकरण करने से उप-रजिस्ट्रार इनकार कर सकता है । इन दस्तावेजों में, अन्य के साथ-साथ ऐसी संपत्ति विषयक दस्तावेज का उल्लेख है जो रजिस्ट्रार के जिले में स्थित न हो अथवा जो उपरजिस्ट्रार के कार्यालय में रजिस्ट्रीकृत होनी चाहिए अथवा निष्पादन की इनकारी के आधार पर इनकार किया जा सकता है । उपरजिस्ट्रार के ऐसे आदेशों के विरुद्ध अपील किए जाने का उपबंध धारा 72 की उपधारा (2) के अधीन किया गया है । रजिस्ट्रार के आदेश के विरुद्ध भी वाद चलाया जा सकता है । बहरहाल, जब कभी अधिनियम की धारा 22-क की उपधारा (2) के निबंधनों के अनुसार उपरजिस्ट्रार किसी दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण करने से इनकार कर देता है तो प्रकटतः उसके विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती ।

मुख्तारनामा

13. मुख्तारनामा देना अनिवार्यतः भारतीय संविदा अधिनियम के अध्याय 10 द्वारा शासित होता है । मुख्तारनामे की विलेख के द्वारा किसी अभिकर्ता को एक संव्यवहार में या संव्यवहारों की श्रृंखला में मालिक की ओर से कार्य करने के लिए अथवा साधारणतया किसी अन्य व्यक्ति को आवश्यक प्राधिकार प्रदत्त करते हुए मालिक के कार्यों का प्रबंध करने के लिए औपचारिक तौर पर नियुक्त किया जाता है । मुख्तारनामे की विलेख अभिकर्ता के पक्ष में मालिक द्वारा निष्पादित की जाती है । अभिकर्ता उसके नाम का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है तथा उसके द्वारा किए गए सब कार्य और चीजें तथा उक्त विलेख में अन्तर्विष्ट परिसीमाओं के अधीन रहते हुए उसे इस प्रकार पढ़ा जाएगा मानो वह दाता द्वारा किया गया हो । जैसा कि सुविदित है मुख्तारनामा एक सुविधाजनक दस्तावेज है ।

14. भारतीय संविदा अधिनियम के अलावा मुख्तारनामा अधिनियम, 1882 इसी विषय के बारे में है । मुख्तारनामा अधिनियम की धारा 1क में

दी गई मुख्तारनामा की परिभाषा के अन्तर्गत ऐसी लिखतें भी हैं जो किसी विनिर्दिष्ट व्यक्ति को उस व्यक्ति की ओर से और उसके नाम से, जो उसका निष्पादन करता है, कार्य करने के लिए सशक्त करती हैं । उक्त अधिनियम की धारा 2 निम्न प्रकार है :–

> **"2. मुख्तारनामे के अधीन निष्पादन** – किसी मुख्तारनामे का आदाता, यदि वह ठीक समझता है तो, मुख्तारनामे के दाता के प्राधिकार से कोई लिखत या बात अपने नाम और हस्ताक्षर से और अपनी मुद्रा से जहां मुद्रा लगाना अपेक्षित है, कर सकता है या निष्पादित कर सकता है, और इस प्रकार निष्पादित और कृत प्रत्येक लिखत और बात विधि में इस प्रकार प्रभावशाली होगी मानो वह मुख्तारनामे के आदाता द्वारा उसके दाता के नाम में और हस्ताक्षर तथा मुद्रा से कृत या निष्पादित है ।
>
> यह धारा उन सभी मुख्तारनामों को लागू होती है जो इस अधिनियम के प्रवृत्त होने के पूर्व या पश्चात् निष्पादित लिखतों द्वारा सृजित किए गए हैं ।"

15. अतः मुख्तारनामे की विलेख का निष्पादन विधि की दृष्टि में विधिमान्य है और अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए अनिवार्य रूप से रजिस्ट्रीयोग्य नहीं है ।

किसी कानून की सांविधानिकता के विषय में उपधारणा

16. यह निर्विवाद है कि किसी कानून की सांविधानिकता के विषय में उपधारणा की जाती है । किंतु सांविधानिकता के पक्ष में उपधारणा का सिद्धांत केवल सबूत के भार के स्थान बदलता है और इसे उस व्यक्ति के कंधों पर डालता है जो उस पर आक्षेप करता है । यह दर्शित करना उस व्यक्ति का काम है कि सांविधानिक सिद्धांतों का स्पष्ट अतिलंघन हुआ है। [**चरनजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाला मामला देखिए] किन्तु यह सिद्धांत इस परिसीमा के अधीन है कि यह तब तक प्रवर्तित रहता है जब यह स्पष्ट और युक्तियुक्त संदेह से परे सिद्ध हो जाता है कि विधानमंडन ने अपनी सीमाओं को लांघा है । अर्थान्वयन के सिद्धांत के रूप में लागू इस नियम से यह अभिप्रेत होता है कि यदि दो अर्थ संभव हैं तो न्यायालय उस अर्थ को नहीं अपनाएंगे जो उसे असांविधानिक बनाता है

---

[1] ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 41 = [1950] एस. सी. आर. 869.

और उस अर्थ को स्वीकार करेंगे जो आक्षेपित विधान की विधिमान्यता को मान्य ठहराता है ।

17. **भारत संघ** बनाम **एल्फिनस्टोन स्पिनिंग एंड वीविंग कंपनी लिमिटेड और अन्य**[1] वाले मामले में यह कहा गया है कि :–

> "9. किसी कानून का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाए कि उसे प्रभावकारी और प्रवर्तनकारी बनाया जा सके । इस बात कि यह सदैव उपधारणा बनी रहती है कि विधानमंडल अपनी अधिकारिता को नहीं लांघता और यह सिद्ध करने का भार कि विधानमंडल ने अपने सांविधानिक समादेशों का जैसेकि मूल अधिकारों के बारे में, अतिलंघन किया है, सदा उस व्यक्ति पर होता है जो उसकी वैधता को चुनौती देता है । जब तक कि यह युक्तियुक्त संदेह से परे स्पष्ट न हो जाए कि प्रश्नगत विधान संविधान की मूल विधि द्वारा अधिकथित सीमाओं का अतिलंघन करता है तब तक उसे राष्ट्रीय भावना की सही अभिव्यक्ति के रूप में कायम रखा जाना चाहिए – शैल कंपनी आफ आस्ट्रेलिया **बनाम** फेडरल कमिश्नर आफ टैक्सेशन । किन्तु पूर्वोक्त सिद्धांत का एक अपवाद यह है कि यदि कोई नागरिक यह सिद्ध कर देता है कि विधान के अंतर्गत उसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है तो राज्य को यह औचित्य बताना चाहिए कि वह विधि व्यावृत्त है । अर्थान्वयन का यह भी मुख्य सिद्धांत है कि यदि एक प्रकार का अर्थ करने से कानून विधानमंडल के अधिकारातीत हो जाएगा जबकि दूसरे प्रकार का अर्थ करने से कानून प्रभावशील और प्रवर्तनशील रहेगा तो न्यायालय इस आधार पर दूसरे अर्थ को अधिमान देगा कि उपधारणा यही रहती है कि विधानमंडल का आशय अधिकारिता से बाहर जाने का नहीं है ।"

18. इस प्रकार, उपधारणा का उक्त सिद्धांत आत्यंतिक सिद्धांत नहीं है बल्कि यह परिसीमाओं के अधीन भी है । निर्वचन में इसका उपयोग उस मतभेद को दूर करने के लिए किया जा सकता है जब दो निर्वचन संभव हों न कि तब जब केवल एक जो इस निष्कर्ष पर ले जाए कि प्रत्यायोजित विधान अनियंत्रित और अनुचित है । यदि उपबंध असांविधानिक हैं तो मात्र उपधारणा, जो सबूत के भार का विनिश्चय करती है, उन्हें व्यावृत्त नहीं रख सकती ।

---

[1] ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 72 = [2001] 4 एस. सी. सी. 139.

क्रेज़ आन स्टेट्यूट ला के सातवें संस्करण के पृष्ठ 95 पर यह कहा गया है कि :–

> "न्यायालयों का पहला काम यह है कि वे संदिग्धार्थी भाषा से कोई अर्थ निकालें न कि उसे निरर्थक माने क्योंकि अर्थान्वयन का यह मुख्य सिद्धांत है कि किसी कानून को शून्य न माना जाए चाहे वह कितना भी संदिग्धार्थक हो । कार्टिस **बनाम** स्टोविन वाले मामले में माननीय न्यायमूर्ति लार्ड बावेन ने यह प्रतिपादित किया था कि 'कानूनों के अर्थान्वयन के नियम बहुत कुछ वैसे ही हैं जिस प्रकार वे अन्य दस्तावेजों के अर्थान्वयन के विषय में विशेषकर एक अति महत्वपूर्ण नियम के बारे में लागू होते हैं अर्थात् यह कि यदि संभव हो तो संसद् के अधिनियम के शब्दों का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए' जिससे कि उनका एक बोधगम्य अर्थ निकले । शब्दों का अर्थ अर्थात् अमान्य से मान्य करना अच्छा है, के रूप में किया जाना चाहिए" और माननीय न्यायमूर्ति लार्ड फ्राई ने कहा : 'हमारे समक्ष प्रस्तुत एकमात्र आनुकल्पिक अर्थान्वयन से यह परिणाम निकलता है कि विधानमंडल का सामान्य आशय धारा में प्रयुक्त भाषा में मामूली सी गड़बड़ के कारण पूरी तरह असफल हो गया है । यदि हम इस अर्थान्वयन को अंगीकार कर लेते हैं तो हम इस अधिनियम का अर्थान्वयन इस प्रकार करेंगे कि उसके उद्देश्य को कार्यरूप देने के दृष्टिकोण के बजाय उसका उद्देश्य ही विफल हो जाएगा ।'"

प्रत्यायोजित विधान

19. विधानमंडल द्वारा अपनी शक्तियां कार्यपालिका के पक्ष में प्रत्यायोजित करने की आवश्यकता विधायी कृत्य का एक अंग है । यह संविधान के अनुच्छेद 245 के अधीन समग्र विधायी शक्ति का एक संघटक तत्व है । किन्तु शक्ति का ऐसा प्रत्यायोजन व्यापक, दिशाहीन या अनियंत्रित नहीं होना चाहिए । ऐसी शक्ति प्रत्यायोजित करते समय विधानमंडल से यह अपेक्षित होता है कि वह मानदंड या मानक निर्धारित करे जिससे कि प्रत्यायोजिती कानून की रूपरेखा के भीतर कार्य करने में समर्थ हो सके । विधानमंडल की शक्ति का प्रयोग जिस सिद्धांत पर किया जाना अपेक्षित है उसे प्रकट किया जाना चाहिए । यह भी सिद्धांत है कि अनिवार्य विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता ।

20. अतः सामान्यतया प्रक्रियागत शक्तियों का प्रयोग प्रत्यायोजित विधान द्वारा कार्यपालिका पर छोड़ दिया जाता है ।

क्षेत्र में प्रवर्तित विधि

21. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेलों ने हमारा ध्यान अनेक निर्णयों की ओर आकर्षित किया जो **दिल्ली विधि अधिनियम, 1912 वाले मामले**[1] से लेकर **आंध्र बैंक** बनाम **बी. सत्यनारायन और अन्य**[2] तक के निर्णय हैं, किन्तु यहां उन पर अलग-अलग से विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक नहीं है ।

22. **दिल्ली विधि अधिनियम, 1912** वाले (उपर्युक्त) मामले में इस न्यायालय ने सुस्पष्ट शब्दों में यह कथन किया था कि विधायिका ऐसी चीजें करने के लिए, जिन्हें वह स्वयं न कर सके या करना, उस सीमा तक, जितनी वह आवश्यक समझे, असुविधाजनक समझे, किसी बाहरी अभिकरण का उपयोग कर सकती है । इससे ऐसी चीजें अभिप्रेत हैं जो मुख्य अधिनियमिति की समनुषंगी हैं और विधायन की उसकी शक्ति का पूर्ण और प्रभावकारी प्रयोग करने के लिए आवश्यक हैं । न्यायमूर्ति मुखर्जी ने अपनी राय में यह कहा था कि :–

> "यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यायोजन का असीमित अधिकार विधायी शक्ति में ही अन्तर्निहित है । संविधान के उपबंधों द्वारा ऐसा अपेक्षित नहीं है और प्रत्यायोजन की विधिसम्मतता उस समनुषंगी अध्युपाय के रूप में उसके प्रयुक्त किए जाने पर ही पूर्णतः निर्भर करती है जिसे विधायिका अपनी विधायी शक्तियों का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से और पूर्णरूपेण करने के प्रयोजनार्थ आवश्यक समझती है । विधायिका को अनिवार्य विधायी कृत्यों को अपने हाथ में रखना चाहिए जैसेकि विधायी नीति घोषित करना और मानक अधिकथित करना जो विधिसम्मत शासन में अधिनियमित किया जाना हो, तथा जो कुछ प्रत्यायोजित किया जा सकता है वह है अधीनस्थ विधायन का कार्य, जो स्वभाव से ही उस कानून का समनुषंगी है जो उसे बनाने की शक्ति प्रत्यायोजित करता है । परन्तु यह जबकि विधायी नीति का प्रतिपादन 'पर्याप्त स्पष्टता से हो या यह मानक अधिकथित हो कि न्यायालय उस विवेकाधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर

---

[1] [1951] एस. सी. आर. 747.

[2] (2004) 2 एस. सी. सी. 657.

सकते और न ही उन्हें करना चाहिए जो कि निर्विवाद रूप से विधायिका में निहित है और वह यह अवधारित करने का है कि किसी विशिष्ट मामले में प्रत्यायोजन किस सीमा तक आवश्यक है ।"

जहां तक "निर्बंधित और उपान्तरित करने की" प्रत्यायोजित शक्ति का संबंध है, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :–

" 'प्रत्यायोजन का विस्तार उन विधियों की, जो प्रश्नगत क्षेत्र में पहले से प्रवृत्त हैं, अनिवार्य विशिष्टियों में फेर बदल करने तक नहीं हो सकता ।'

xxx xxx xxx xxx

'निर्बंधित और उपान्तरित' करने की शक्ति का अभिप्राय अनिवार्य परिवर्तन करने की शक्ति नहीं है । यह गौण प्रकृति के फेर-बदल करने तक सीमित है जो एक क्षेत्र के लिए आशयित अधिनियम को किसी दूसरे क्षेत्र में लागू करने के लिए तथा राज्य में पहले से विद्यमान विधियों से सामंज़स्य बैठाने अथवा उन अंशों का लोप करने के लिए, जो पूर्णतः किसी दूसरे क्षेत्र के लिए अभिप्रेत है, आवश्यक हैं । किसी अधिनियम के अनिवार्य स्वरूप को बदलना या उसकी तात्विक विशिष्टियों में परिवर्तन करना विधायन करना है तथा निर्विवादित : अर्थात् विधान बनाने की शक्ति विधानमंडल द्वारा जो नियंत्रणों के अधीन है प्रत्यायोजित नहीं की जा सकती है ।"

23. तथापि **राजनारायन सिंह** बनाम **अध्यक्ष, पटना प्रशासन समिति, पटना और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक संविधान पीठ की ओर से न्यायमूर्ति विवियन बोस ने **दिल्ली विधि अधिनियम** वाले (उपर्युक्त) मामले में विभिन्न विद्वान् न्यायाधीशों की रायों का विश्लेषण किया और बहुमत को इन शब्दों में व्यक्त किया :–

".....कि कार्यपालक प्राधिकारी को विद्यमान या भावी विधियों को उपांतरित करने के लिए प्राधिकृत किया जा सकता है किन्तु किसी अनिवार्य तत्व में नहीं । अनिवार्य तत्व क्या है इसे साधारण रूप से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता और पूर्वकथित मामले में इस बारे

[1] [1955] 1 एस. सी. आर. 290.

में मत कुछ भिन्न थे, किन्तु ऊपरवर्णित रायों से इतना तो साफ है कि इसमें नीति में परिवर्तन करना शामिल नहीं है ।"

24. **हमदर्द दवाखाना और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] तथा **कृष्ण मोहन (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **दिल्ली नगर निगम और अन्य**[2] वाले मामलों में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अस्पष्ट या दिशाहीन या अनियंत्रित शक्ति प्रत्यायोजन को विधि की दृष्टि में दोषपूर्ण बना देती है ।

25. **किशन प्रकाश शर्मा और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ ने विधिक स्थिति की व्याख्या करते हुए अभिनिर्धारित किया है कि :–

> "..... भारत में विधानमंडलों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उनके पास विधायन की व्यापक शक्ति है किंतु वह कुछ परिसीमाओं के साथ है जैसे विधानमंडल उन अनिवार्य विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता जिनमें विधायी नीति तय करना अथवा चुनना शामिल है तथा उस नीति को आबद्धकर आचार नियम में औपचारिक रूप से अधिनियमित करना भी शामिल है । विधायिका दिशाहीन और अनियंत्रित शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं कर सकती । विधायिका को विधि की नीति घोषित करके तथा उन लोगों के मार्गदर्शन के लिए मानदंड निर्धारित करके, जिन पर विधि को निष्पादित करने की शक्ति प्रदत्त की जाए, प्रत्यायोजित शक्ति की सीमाएं अवश्य तय करनी चाहिए । इस प्रकार प्रत्यायोजन तभी विधिमान्य होता है जब विधायी नीति और उसे कार्यान्वित करने के दिशानिर्देश ठीक प्रकार से अधिकथित किए जाएं तथा प्रत्ययोजिती केवल विधानमंडल द्वारा अधिकथित दिशानिर्देशों के अंतर्गत ही नीति को कार्यान्वित करने के लिए सशक्त होता है । विधानमंडल, विधायी नीति अधिकथित करने के बाद, नीति के निष्पादन के बारे में प्रशासनिक अभिकरण को विवेकाधिकार प्रदत्त कर सकेगा और नीति की रूपरेखा के भीतर ब्यौरे तय करने का काम उस अभिकरण पर छोड़ सकेगा । जब संविधान विधि निर्माण का कर्तव्य संसद् और

---

[1] ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 554.

[2] (2003) 7 एस. सी. सी. 151.

[3] (2001) 5 एस. सी. सी. 212.

राज्यों के विधानमंडलों को सौंपता है तो यह विवक्षित रूप से उन्हें उस उत्तरदायित्व को किसी दूसरे प्राधिकारी के कंधों पर डालने से प्रतिषिद्ध करता है .....।"

26. **अजय कुमार बनर्जी और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1], **कृषि विपणन समिति** बनाम **शालीमार कैमिकल्स वर्क्स लिमिटेड**[2] तथा **भारत संघ और अन्य** बनाम **कृष्ण मोहन (प्रा.) लिमिटेड** वाले (उपर्युक्त) मामलों को भी देखिए ।

27. तथापि हमारा ध्यान **रमेश विर्क और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय की ओर आकृष्ट किया गया जिसमें दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ की ओर से न्यायमूर्ति रंगनाथन ने [राज्य] पुनर्गठन अधिनियम की धारा 87 के उपबंधों का, जो केंद्रीय सरकार को ऐसे निर्बंधनों और उपान्तरों के साथ, जैसे वह ठीक समझे, किसी अधिनियमिति का विस्तार, जो किसी राज्य में प्रवृत्त है, अधिसूचना की तारीख से चंडीगढ़ संघ राज्यक्षेत्र तक करने के लिए सशक्त करते हैं, अर्थान्वयन करते समय यह मत व्यक्त किया था :

"23. किंतु इन सूक्ष्म तकनीकी बातों के अलावा हमारा यह विचार है कि धारा 87 'नीति और दिशानिर्देश' के सिद्धांत पर भी पूरी तरह विधिमान्य है यदि अधिनियम के संदर्भ तथा अधिनियम की धारा 87 द्वारा प्राप्त किए जाने के लिए ईप्सित उद्देश्य और प्रयोजन का उचित ध्यान रखा जाता है । ऊपरनिर्दिष्ट न्यायिक विनिश्चयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि विधानमंडल अपनी नीति के 'सभी विवरणों को देना चाहिए'। यदि वह विधानमंडल की सामान्य नीति का व्यापक संकेत ही देता है तो वह पर्याप्त है । यदि हम इसे ध्यान में रखें और इस प्रकार के विधान के इतिहास को भी ध्यान में रखें तो हमें कोई कठिनाई नहीं होगी .....।"

28. मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में माननीय न्यायमूर्तियों का यह मत था कि शक्ति का ऐसा प्रत्यायोजन चूंकि 'विधि के अंतरारोपण'

---

[1] (1984) 3 एस. सी. सी. 127.

[2] (1997) 5 एस. सी. सी. 516.

[3] [1990] 1 उम. नि. प. 666 = (1989) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 430.

तक सीमित है न कि 'किसी विधि के अधिनियमित किए जाने तक' इसलिए यह विधिमान्य होगा ।

29. हमारा ध्यान **सेठ नंदलाल और एक अन्य** बनाम **हरियाणा राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ के विनिश्चय की ओर भी इस प्रतिपादना के लिए आकृष्ट किया गया कि जब तक उपबंध इतने अस्पष्ट न हों तब तक वे असांविधानिक घोषित नहीं किए जा सकते ।

30. उस मामले में, इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा हरियाणा अधिकतम जोत सीमा अधिनियम, 1972 के कुछ उपबंधों पर विचार किया गया था तथा संविधान के अनुच्छेद 31क और 31ख की कसौटी पर उसकी विधिमान्यता कायम रखी गई थी और यह राय व्यक्त की गई थी कि आक्षेपित अधिनियम राज्य की विधायी सक्षमता के अन्तर्गत था । 'कुटुंब' आदि की परिभाषा के अस्पष्ट होने संबंधी प्रश्न विचारार्थ उठा था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विधानमंडल उक्त अधिनियम के प्रयोजनार्थ विधिक कल्पितार्थ सृजित करने के लिए विधितः हकदार है.....।

विश्लेषण

31. इसमें कोई भी संदेह नहीं हो सकता कि न्यायालय अनिवार्य विधायी कृत्य के प्रत्यायोजन के आधार पर या प्रत्यायोजिती को मार्गदर्शनहीन, अनियंत्रित और अस्पष्ट शक्तियां प्रदत्त करने के आधार पर अधिनियम की उद्देशिका एवं कानून के अन्य उपबंधों को भी, वे अतिवर्तनकारी कानून के अर्थ का पता लगाने के पर्याप्त साधन सुलभ कराते हैं, ध्यान में रखे बिना किसी विधान को अविधिमान्य नहीं ठहराएगा । विषय के इस पहलू पर **पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2] तथा **आंध्र बैंक** बनाम **बी. सत्यनारायन और अन्य**[3] वाले मामले में, जिसमें हममें से एक न्यायमूर्ति उस पीठ का सदस्य था, कुछ विस्तार से विचार किया गया था ।

---

[1] (1980) सप्ली. एस. सी. सी. 375.

[2] (2004) 2 एस. सी. सी. 476.

[3] (2004) 2 एस. सी. सी. 657.

32. किंतु उद्देशिका तथा उद्देश्य और कारणों के कथन पर तभी दृष्टिपात किया जा सकता है जब अधिनियम की भाषा में अस्पष्टता या संदिग्धार्थता विद्यमान हो जैसेकि **अरनित दास** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में विद्यमान थी । उक्त मामले में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :–

> "22. यदि विधानमंडन ने 'किशोर' शब्द की परिभाषा में संदिग्धार्थता न रहने देने का ध्यान रखा होता और उस कालबिंदु को स्पष्टतः विनिर्दिष्ट कर दिया होता जिसके प्रति निर्देश से किसी व्यक्ति को किशोर मानने के लिए आयु अवधारित की जा सकती थी, तो इस सब कवायद से बचा जा सकता था । संदिग्धार्थता को उद्देशिका और उद्देश्यों तथा कारणों के कथन पर विचार करके दूर किया जा सकता है । उद्देशिका से यह पता चलता है कि अधिनियम का क्या करना आशयित है । यदि संसद् द्वारा प्रयुक्त भाषा संदिग्धार्थी है तो न्यायालय अधिनियम के उपबंधों का अर्थान्वयन करने के लिए उद्देशिका पर दृष्टिपात कर सकता है [बुर्राकर कोल कंपनी लिमिटेड **बनाम** भारत संघ (ए. आई. आर. 1961 एस. सी. 954) वाला मामला] । किसी कानून की उद्देशिका को उसका अर्थ जानने के लिए अच्छे माध्यम और जैसे भी वे हों उन्हें समझने की कुंजी बताया गया है, इस न्यायालय ने उक्त मत ए. थंगल कुंजु मुसालियार **बनाम** एम. वेंकटाचलम पोट्टि (ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 246) वाले मामले में व्यक्त किया था । उद्देशिका विधायी आशय का अनावरण करने की कुंजी है । यदि किसी अधिनियमिति में प्रयुक्त शब्दों से उसके अर्थ के बारे में संदेह उत्पन्न होता है तो उस अधिनियमिति का इस तरह निर्वचन करना उपयोगी होगा जिससे कि वह उस उद्देश्य से सामंजस्य बैठा सके जो विधायिका की दृष्टि में था .....।"

33. इस प्रकार, जब भाषा से एकाधिक अर्थ निकलने संभव हों तभी उद्देशिका तथा उद्देश्यों और कारणों के कथन पर विचार किया जा सकता है न कि तब जब किसी चीज का एक सुनिश्चित अर्थ न किया जा सके जैसाकि 'लोक नीति' की स्थिति में है । यदि उद्देश्यों और कारणों के कथन पर उसके अर्थ का पता लगाने के लिए विचार किया जाए तो भी उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो नैतिकता अथवा लोक नीति से सम्बद्ध कहा जा

---

[1] (2000) 5 एस. सी. सी. 488.

सके । इससे आगे हमें यह नहीं दर्शाया गया कि उद्देशिका या अधिनियम के कोई अन्य उपबंध अधिनियम की धारा 22-क का अर्थान्वयन करने में कोई मार्गदर्शन कैसे प्रदान करेंगे । जैसेकि इसमें इसके पूर्व देखा गया है, अपीलार्थियों के काउंसेल की ओर से दी गई मुख्य दलील यह है कि 'लोकनीति के विरुद्ध' शब्दावली ही ऐसा मार्गदर्शन प्रदान करती है ।

34. 'लोक स्वास्थ्य के हित में' पदावली पर **गोडवाट पान मसाला प्रोडक्ट्स आई.पी. लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष विचार किया गया था । उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रस्तुत समस्त सांविधानिक कठिनाइयों से पार पाने के लिए यह अभिचार या मंत्र के रूप में प्रवर्तित नहीं हो सकता । जहां तक तम्बाकू के संबंध में 'वाणिज्येतर वस्तु' का सिद्धांत लागू करने का संबंध है, न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह विधायी नीति का विषय है और यह विधानमंडल के किसी अधिनियम से उद्भूत होना चाहिए न कि किसी कार्यपालक प्राधिकारी द्वारा निकाली गई अधिसूचना द्वारा । किसी विशेष कालबिंदु पर नैतिकता क्या है इसका निर्वचन करने का क्षेत्राधिकार सदैव न्यायपालिका का है और यह शक्ति कार्यपालिका को नहीं दी जा सकती ।

35. जैसा कि **केरल राज्य और अन्य** बनाम **ट्रावनकोर कैमिकल्स एंड मैन्युफैक्चरिंग कंपनी और एक अन्य**[2] वाले मामले में कहा गया है, जब ऐसी चीजें न्यायपालिका के अनन्य क्षेत्राधिकार में हैं तो कार्यपालिका के विनिश्चयों को अंतिम कैसे माना जा सकता है । उक्त निर्णय में यह मत व्यक्त किया गया है कि:–

> "13. धारा 59क सरकार को ऐसा प्राशसनिक आदेश पारित करने में समर्थ बनाती है जो अधिनियम के अध्याय 7 में अन्तर्विष्ट अपील, पुनरीक्षण आदि के कानूनी उपबंधों को नकारने का प्रभाव रखता है जिनके अनुसार अपील या पुनरीक्षण प्राधिकारी उन प्रश्नों का विनिश्चय कर सकता है जिनके संबंध में धारा 59क के अधीन आदेश पारित किया जाता है । न्यायिककल्प या न्यायिक विनिश्चय का स्थान प्रशासनिक विनिश्चय करने की शक्ति ग्रहण कर लेती है । धारा 59क में ऐसी कोई बात नहीं है जो सरकार को व्यवहारी के अपील

---

[1] (2004) 7 एस. सी. सी. 68.

[2] (1998) 8 एस. सी. सी. 188.

प्राधिकारी के समक्ष करके दर संबंधी प्रश्न पर सफल हो जाने के पश्चात् भी शक्ति का प्रयोग करने से विवर्जित करती हो । धारा 59क के अधीन शक्ति इतनी व्यापक और असीम है कि उसका प्रयोग कभी भी किया जा सकता है और इस प्रकार किया गया विनिश्चय अंतिम होगा । हो सकता है, इसका परिणाम ऐसा हो कि ऐसे विनिश्चय के द्वारा अधिनियम की धारा 40 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा प्रयुक्त, यथास्थिति, अपीली या पुनरीक्षण शक्ति को अतिष्ठित कर दिया जाए । इस धारा द्वारा ऐसा कार्यपालक आदेश पारित किए जाने को समर्थ बनाया गया है जो राज्य और व्यवहारी के बीच के विवाद के न्यायिककल्प या न्यायिक हल की स्कीम को निष्प्रभावी कर दे ।"

36. हम इस न्यायालय के उन विनिश्चयों को नहीं भूले हैं जिनमें विधि का यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है कि वित्तीय विषयों से और/या कोई उपबंध अधिकथित करने संबंधी कानून अथवा संविधान के भाग 4 में अन्तर्विष्ट राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में वर्णित सामाजिक न्याय के सिद्धांत को प्रवर्तित करने वाले कानून में साधारणतया, वरिष्ठ न्यायालयों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा । यह अधिनियम न तो कोई वित्तीय कानून है और न ही यह संविधान के भाग 4 के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय के बारे में है ।

लोक नीति

37. 'लोक नीति' या 'लोक नीति के विरुद्ध' शब्दों को, अन्य के साथ-साथ, संविदा अधिनियम की धारा 23, विदेशी पंचाट (मान्यता और प्रवर्तन) अधिनियम, 1961 की धारा 7(1)(ख)(ii), उत्तर प्रदेश (किराया और बेदखली का अस्थायी नियंत्रण) अधिनियम, 1947 की धारा 3(1) और माध्यस्थम और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 34(2)(ख)(ii) में निर्दिष्ट किया गया है ।

38. उक्त उपबंधों के द्वारा न्यायपालिका को लोक नीति के उन संघटकों के बारे में अवधारित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है जिससे संविदा या पंचाट में हस्तक्षेप का आधार बन सकता है ।

39. हमारे लिए उक्त कानूनों के सुसंगत उपबंधों से संबंधित निर्णयज विधि पर व्यापक रूप से विचार करना आवश्यक नहीं है किन्तु हमारी राय में यह दलील देना सही नहीं होगा कि लोक नीति की कोई एक निश्चित

परिभाषा दी जा सकती है । 'लोक नीति के विरुद्ध' क्या है, यह संव्यवहार की प्रकृति पर निर्भर करेगा । पक्षकारों के अभिवचन और अभिलेख पर लाई गई सामग्री सुसंगत होगी जिससे न्यायालय यह आकलन कर सके कि सरकार विशेष की नीति के यथा विपरीत लोक कल्याण या लोक हित में क्या है अथवा सुसंगत कालबिंदु पर लोक कल्याण या लोक हित के लिए क्या क्षतिकारक या हानिकारक होगा । किसी नागरिक के अधिकारों से संबंधित विधि स्पष्ट और असंदिग्धार्थी होनी चाहिए । लोक नीति का सिद्धांत कामल लॉ की एक शाखा में अन्तर्विष्ट है, यह पूर्व निर्णयों (नजीरों) से शासित होता है ।

40. इन सिद्धांतों को विभिन्न शीर्षों के अन्तर्गत सुस्पष्ट किया गया है और यद्यपि न्यायालयों के लिए उनका प्रतिपादन करना और उन्हें विभिन्न स्थितियों में लागू करना संभव हो सकता है फिर भी यह सामान्य बात है कि लोगों को नुकसान पहुंचाने वाले स्पष्ट और अकाट्य मामलों में उक्त सिद्धांत का सहारा नहीं लिया जाना चाहिए यद्यपि यह विषय खुला है और सैद्धांतिक तौर पर परिवर्तनशील विश्व में आपवादिक परिस्थितियों के अन्तर्गत एक नया शीर्ष तैयार किया जा सकता है । **घेरूलाल पारेख** बनाम **महादेवदास मैया और अन्य**[1] वाला मामला देखिए ।

41. किंतु **जोरोस्ट्रियन कोआपरोटिव हाउसिंग सोसाइटी लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **जिला रजिस्ट्रार, सहकारी सोसाइटियां (नगरीय) और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि :–

> "संविदा अधिनियम की धारा 23 के संदर्भ में सांविधानिक स्कीम पर आधारित संभव या विचारणीय तर्क से अधिक जो आवश्यक है वह है किसी व्यक्ति द्वारा स्वेच्छया किए गए करार को अकृत किया जाना ।"

आगे यह मत व्यक्त किया गया था कि :–

> "सामान्यतया, जैसा कि इस न्यायालय ने घेरूलाल पारेख **बनाम** महादेवदास मैया वाले मामले में कहा था लोक नीति का सिद्धांत पूर्व निर्णयों द्वारा शासित होता है, उसके सिद्धांत विभिन्न शीर्षों के अंतर्गत प्रतिपादित किए गए हैं और चूंकि इन्हें प्रतिपादित

---

[1] ए. आई. आर. 1959 एस. सी. 781 = [1959] सप्ली. 2 एस. सी. आर. 406.

[2] (2005) 5 एस. सी. सी. 632.

करना और विभिन्न स्थितियों में लागू करना अनुज्ञेय है अतः इन्हें वहीं लागू करना चाहिए जहां मामले स्पष्ट हों और जनता की हानि न होती हो । यद्यपि सैद्धांतिक तौर पर आपवादिक परिस्थितियों में लोक नीति का एक नया शीर्ष बनाना अनुज्ञेय है फिर भी समाज की स्थिरता के हित में ऐसा करना उचित नहीं है ।"

42. किसी संविदा का 'लोकहित के विरुद्ध' होना संविदा अधिनियम की धारा 23 के अधीन एक प्रतिवाद है और न्यायालयों को संविदा की विधिमान्यता पर विनिश्चय करते समय निम्न बातों पर विचार करना होता है :—

(क) सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6 के निबंधनों के अनुसार अभिवचन ।

(ख) मामले में लागू होने वाला कानून ।

(ग) भारत के संविधान के भाग 3 और 4 के उपबंध ।

(घ) विशेषज्ञ साक्ष्य, यदि कोई हो ।

(ङ) मामले के अभिलेख पर लाई गई सामग्री ।

(च) अन्य सुसंगत कारक, यदि कोई हों ।

43. वाद में के उस पक्षकार को भी, जिसके विरुद्ध अवैधता का अभिवचन किया जाता है, अपनी स्वयं की प्रतिरक्षा करने का अवसर मिलता है । इस प्रकार लोक नीति क्या है इसका विनिश्चय करने का अनिवार्य कृत्य अधीनस्थ विधान के माध्यम से कार्यपालिका को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता है ।

44. तथापि, राज्य का विधानमंडल यह अधिकथित कर सकता है कि कौन-कौन से कृत्य समाज के लिए घातक होने के कारण अनैतिक होंगे । ऐसे विधान की प्रकृति अधिष्ठायी होने के कारण उसे विनिर्दिष्ट तौर पर विधायी मंजूरी मिलनी चाहिए न कि अधीनस्थ विधान या कार्यपालिक अनुदेशों के माध्यम से ।

45. 'लोक नीति के विरुद्ध' पदावली के अन्तर्गत ऐसे कृत्य आ सकते हैं जिनसे लोक नैतिकता का पतन होना, उसे भ्रष्ट करना या क्षति पहुंचाना संभाव्य है और इस प्रकार वे अनिवार्यतः विधायी नीति के विषय होने चाहिए ।

46. इस न्यायालय द्वारा उक्त पदावली पर **सेंट्रल इनलैंड वाटर ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **ब्रजनाथ गांगुली और एक अन्य**[1] वाले मामले में विचार किया गया था । उसमें चेतावनी के रूप में एक टिप्पणी की गई थी कि यह एक ऐसा अति बिगड़ैल घोड़ा है जो एक बार बिगड़ जाए तो कोई नहीं जानता उसे कहां ले जाकर छोड़ेगा । इस प्रश्न को कि क्या संविदा की विधिमान्यता विषयक कथन को इस आधार पर कि यह लोकनीति के विरुद्ध है, सामान्यतया उन परिसीमाओं के भीतर देखा परखा जाना चाहिए जो चिरस्थायी नजीरों और पूर्व निर्णयों द्वारा उसके लिए नियत की गई हैं, किन्तु किसी मामले का विनिश्चय करते समय, हो सकता है, वह ऐसी नजीरों के अन्तर्गत न आता हो और पूर्व निर्णयों का अभाव हो तब संविधान की उद्देशिका या हमारे संविधान में मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों में अन्तर्निहित सिद्धांतों का सहारा लिया जा सकता है । **रतन चन्द हीरा चन्द** बनाम **अस्कर नवाजजंग (मृत) विधिक प्रतिनिधियों के द्वारा और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने प्रो. विन्फील्ड के लेख 'पब्लिक पालिसी इन द इंगलिश कामन लॉ' से निम्नलिखित अंश उद्धृत किया :–

> "ऐसा लगता है कुछ न्यायाधीशों ने यह सोचा हो कि यह (लोक नीति का बिगड़ैल घोड़ा) एक चीते जैसा लगता है और उस पर चढ़ने से कतई मना कर दिया हो क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उनका भी वही अंजाम न हो जो रीगा नामक युवती का हुआ था । दूसरों ने इसे बेलगाम गधे जैसा माना जो अपने सवार को कहीं नहीं ले जाता अर्थात् गंतव्य तक नहीं पहुंचाता । किन्तु आज तक किसी ने भी इसे खगाश्व (पेगासस) के रूप में नहीं देखा जो समाज की क्षणिक जरूरतों से भी परे ले जा सके ।"

इससे आगे यह मत व्यक्त किया गया था –

> "सभी न्यायालयों को किसी न किसी समय यह आवश्यकता महसूस होती है कि 'जो है' और 'जो होना आशयित है' के बीच के अंतर को पूरा किया जाना चाहिए । इन परिस्थितियों के अन्तर्गत न्यायालय अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हो सकते और उस अन्तराल को पूरा करने से इनकार नहीं कर सकते । इस कर्तव्य को पूरा करते

---

[1] (1986) 3 एस. सी. सी. 156.

[2] [1991] 3 उम. नि. प. 674 = (1991) 3 एस. सी. सी. 67.

समय वे अपने मूल आधारित निर्णयों को समाज पर नहीं मढ़ते । वे विद्यमान मूल्यों का सम्मान करते हैं और उन्हें स्वीकार करते हैं और वही करते हैं जो उनसे प्रत्याशित होता है । दूसरी ओर, यदि न्यायालय अवसर के अनुरूप सामने नहीं आते और केवल किंकर्तव्य विमूढ़ होकर किसी कानून या दस्तावेज का अथवा किसी व्यक्तिगत कार्रवाई के निर्वचन का अनुमोदन करते हैं जो निश्चय ही, सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में बाधा पहुंचाता हो और लोक कल्याण को जोखिम में डालता हो तो वे अपने कर्तव्य का पालन करने में असफल रहेंगे ।"

चिट्टी आन कान्ट्रेक्ट्स, 28वां संस्करण में पृष्ठ 838 पर यह कहा गया है कि :–

"वे उद्देश्य जो लोक नीति के आधार पर संविदाओं को अविधिमान्य कर देते हैं, सुविधा की दृष्टि से, साधारणतया पांच समूहों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं – प्रथम, वे उद्देश्य जो कामन लॉ या विधान द्वारा अवैध हैं, दूसरे, वे उद्देश्य जो देश की भीतर के या विदेशी मामलों के क्षेत्र में अच्छे शासन के लिए क्षतिकारक हैं, तीसरे, वे उद्देश्य जो न्यायतंत्र के सुचारु कार्यकरण में हस्तक्षेप करते हैं, चौथे, वे उद्देश्य जो विवाह और नैतिकता के लिए क्षतिकारक हैं और पांचवें, वे उद्देश्य जो आर्थिक दृष्टि से लोक हित के प्रतिकूल हैं । प्रधानतः इस वर्गीकरण को प्रकटन के मामले में अपनाया जाता है । कुछ ऐसे भी मामले हैं जो इन पांच प्रवर्गों में से किसी में भी स्पष्टतः उपयुक्त नहीं बैठते हैं ।"

47. विद्वान् लेखक ने यह मत व्यक्त किया था कि लोक नीति का सिद्धांत कुछ नम्य और लचीला है जिसके कारण इसे न्यायिक आलोचना का शिकार होना पड़ा है और इसे न्यायालयों ने अस्पष्ट, असमाधानप्रद, विधिक विनिश्चय के लिए घातक, बहुत अस्थिर और खतरनाक आधारशिला के रूप में देखा है जिस पर निर्माण करना तब तक असुरक्षित रहता है जब तक उसे विनिश्चय द्वारा सुरक्षित न कर दिया जाए और जो अपरिवर्तनीय न हो, और यह कहा कि वाणिज्यिक परिपाटी जो किसी समय अनुज्ञेय थी, क्षतिकारक या अन्यथा पाई जा सकती है ।

48. चेशायर, फाइफूट और फर्मस्टोन कृत ला आफ कान्ट्रेक्ट, 14वां संस्करण में पृष्ठ 407 पर यह कहा गया है कि :–

"तत्पश्चात्, यह उपधारणा करते हुए कि किसी अनुचित तत्व से दूषित संविदाएं दो वर्गों में बांटी जानी चाहिए, कामन लॉ में 'अवैधता' के अपेक्षाकृत अधिक गंभीर उदाहरणों को कम गंभीर उदाहरणों से सुभिन्न कैसे किया जा सकता है ? जिन संविदाओं पर न्यायालयों ने अपनी भौहें चढ़ाई हों उनमें से कौन-सी संविदाएं इतनी प्रकटतः संदिग्ध हैं – लोक नीति के प्रकटतः प्रतिकूल हैं – कि उन्हें अनिवार्य रूप से अवैध की संज्ञा दी जानी चाहिए ? न्यायिक नजीर का अभाव है, किन्तु निवेदन किया जाता है कि निम्नलिखित छह प्रकार की संविदाओं को उचित और सही रूप से 'अवैध' का नाम दिया जा सकता है :–

– अन्य पक्षकार पर अपराध, अपकृत्य या कपट करने की संविदा ।

– लैंगिक दुराचार की दृष्टि से संविदा ।

– लोक सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली संविदा ।

– न्याय-प्रशासन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली संविदा ।

– सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार की ओर प्रवृत्त करने वाली संविदा ।

– राजस्व का कपट वंचन करने वाली संविदा ।

तीन प्रकार की संविदाएं शेष रहती हैं जो 'लोक नीति' का अतिवर्तन करती हैं, किंतु जो असैद्धांतिक की बजाय असमीचीन हैं ।

– न्यायालय की अधिकारिता को हटाने की संविदा ।

– विवाह की प्रास्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने के लिए प्रवृत्त करने वाली संविदा ।

– व्यापार को अवरुद्ध करने वाली संविदा ।"

49. प्रो. विनफील्ड ने 42 हार्वर्ड लॉ रिव्यू 76 में प्रकाशित अपने लेख – "पब्लिक पालिसी इन द इंग्लिश कॉमन लॉ" में कहा था :–

"इन सब में सबसे प्रथम सिद्धांत यह है कि विद्यमान संसदीय विधान से उसका परस्पर विरोध न हो । वह किसी अधिनियमिति के

निर्वचन में किसी संदेहास्पद बिंदु को हल करने में उपयोगी हो । किन्तु ऐसी लोक नीति नहीं हो सकती जो ऐसे किसी निष्कर्ष पर ले जाए जबकि उस बाबत ऐसा कोई कानून है जिससे निश्चित रूप से प्रतिकूल निष्कर्ष निकलता है । इसके अतिरिक्त, जहां कामन लॉ का नियम अपने आप में स्पष्ट है वहां लोक नीति पर आधारित तर्क असंगत होते हैं चाहे वे कितने भी उपयोगी और स्वीकार्य हों, उन्हें वहां अपनाया जा सकता है जहां कोई नया या संदिग्ध प्रश्न उत्पन्न होता है । ऐसी प्रवृति भी देखी गई है कि लोक नीति को विधि को उपान्तरित करने का अंतिम साधन माना जाता है ।"

50. चेतावनी के इन शब्दों के बावजूद कि न्यायालय का कर्तव्य विधि को प्रतिपादित करना है न कि उसे विस्तारित करना, संविदा की जो लोक नीति के विरुद्ध है, अवैधता के नए शीर्ष ढूंढ़ निकाले गए हैं और हर स्थिति में ऐसी संभावना बनी रहती है **नेगल** बनाम **फील्डेन**[1] और **न्यूकेसल डायोसीज (चर्च प्रोपर्टी ट्रस्टीज)** बनाम **एबेक**[2] वाले मामले देखिए ।

51. अतः हमारी राय में ऐसा कोई सिद्धांत, जो इतना अस्पष्ट या अनिश्चित है, किसी भी प्रकार का कोई दिशानिर्देश प्रदान नहीं कर सकता और न ही करता है । इसके अलावा, अधीनस्थ विधान बनाते समय कार्यपालिका को अपनी मनमर्जी से लोक नीति के नए शीर्ष खोलने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती । अतः लोक नीति के विरुद्ध होने के कारण इसमें ऐसे कोई दिशानिर्देश अधिकथित नहीं हैं कि इसे सांविधानिक बनाया जा सके । मुख्तारनामे का निष्पादन अपने आप में अविधिमान्य नहीं है । दूसरे शब्दों में यह विधिपूर्ण है ।

52. राजस्थान राज्य द्वारा निकाली गई अधिसूचनाओं से स्वयं ही यह दर्शित है कि विलेख या दस्तावेज द्वारा साक्ष्यित संव्यवहार पक्षकारों के लिए अनिश्चित स्थिति पैदा कर सकते हैं । तारीख 1 अप्रैल, 1999 की अधिसूचना द्वारा, ऐसे किसी मुख्तारनामे को, जिसके द्वारा अटर्नी को कोई स्थावर संपत्ति छह मास से अधिक अवधि के लिए या अप्रतिसंहरणीय रूप में या जहां अवधि का उल्लेख न हो, अंतरित करने के लिए प्राधिकृत किया गया हो, लोक नीति के विरुद्ध घोषित किया गया, जबकि तारीख 22 अप्रैल, 1999 की पश्चात्वर्ती अधिसूचना द्वारा 'छह मास' के स्थान पर

---

[1] (1966) 2 क्वींस बैंच 633.

[2] (1960) 34 ए. एल. जे. आर. 413.

'तीन वर्ष' शब्द प्रतिस्थापित कर दिए गए थे । इसी प्रकार तारीख 26 अप्रैल, 1999 की अधिसूचना द्वारा ऐसे मुख्तारनामे के जिसके द्वारा स्थावर संपत्ति की विक्रय विलेख, दान, बंधक या अंतरण के किसी अन्य दस्तावेज को निष्पादित करने के लिए प्राधिकृत किया गया हो उप-रजिस्ट्रार या रजिस्ट्रार के, जिसके क्रमशः जिले या उपजिले में उस सम्पत्ति का पूरा या कुछ भाग स्थित है, जिसके संबंध में वह मुख्तारनामा है, से भिन्न किसी अधिकारी के समक्ष रजिस्ट्रीकरण के लिए प्रस्तुत किया जाना लोक नीति के विरुद्ध घोषित किया गया । उस अधिसूचना को तारीख 22 अप्रैल, 1999 की अधिसूचना द्वारा संशोधित करके भाई या बहिन अथवा पुत्र या पुत्री अथवा पिता या माता अथवा पति या पत्नी अथवा पौत्र या पौत्री के पक्ष में निष्पादित ऐसे मुख्तरानामे को इससे छूट दे दी गई ।

53. भारतीय संविदा अधिनियम एवं मुख्तरानामा अधिनियम के उपबंधों के निबंधनों के अनुसार मुख्तारनामे का निष्पादन विधिमान्य है । हम इसमें इसके पूर्व देख चुके हैं, मुख्तारनामे का निष्पादन दाता द्वारा किया जाता है जिससे कि आदाता उसकी ओर से कार्य कर सके । उन स्थितियों को छोड़कर, जिनमें मुख्तारनामा हित से जुड़ा होता है, यह प्रतिसंहरणीय होता है । आदाता, ऐसे मुख्तारनामे के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए केवल दाता के स्थान पर कार्य करता है जो निःसंदेह उसके द्वारा उसे दी गई शक्तियों के अधीन होता है । वह अपने फायदे के लिए मुख्तारनामे का प्रयोग नहीं कर सकता । वह एक वैश्वासिक हैसियत में कार्य करता है । अविश्वास या न्यासभंग का कोई कार्य दाता और अदाता के बीच का मामला होता है ।

निष्कर्ष

54. हम इसमें इससे पहले देख चुके हैं कि राजस्थान राज्य ने अधिनियम में धारा 17(1)(च) और (छ) को अन्तःस्थापित करके स्थावर संपत्ति के अंतरण से संबंधित विक्रय करार और अप्रतिसंहरणीय मुख्तारनामा के रजिस्ट्रीकरण को एक तरह से अनिवार्य रूप से रजिस्ट्रीकरणीय दस्तावेज बना दिया । राज्य ने आगे स्टाम्प अधिनियम, 1899 की द्वितीय अनुसूची के अनुच्छेद 23 को संशोधित करके स्थावर संपत्ति के विक्रय करार और अप्रतिसंहरणीय मुख्तारनामा को या हस्तांतरण के अनुक्रम में जो सकब्जा हो, निष्पादित किसी अन्य लिखत आदि को हस्तांतरण के रूप में समझा जाने वाला बना दिया और उस पर तदनुसार स्टाम्प शुल्क प्रभार्य बना दिया है । राज्य के अनुसार, ऐसी अधिनियमितियों के बावजूद विक्रेता

द्वारा संपत्ति को बेचने के अधिकार सहित मुख्तारनामे के आधार पर विक्रय किए जा रहे थे और ऐसे मुख्तारनामे अविनिर्दिष्ट कालावधि के लिए निष्पादित किए जा रहे थे । संविदा करने में समर्थ दो व्यक्तियों के बीच संव्यवहार, जिससे किसी कानून का उल्लंघन नहीं होता है, विधि की दृष्टि में विधिमान्य होता है । राजस्थान राज्य द्वारा ऐसे संव्यवहारों को अवैध नहीं बनाया गया । भारतीय संविदा अधिनियम या मुख्तारनामा अधिनियम का संशोधन नहीं किया गया है । अतः मुख्तारनामे का निष्पादन अपने आप में अवैध नहीं है । उन मामलों के सिवाय, जो धारा 17(1)(छ) या धारा 17(1)(ज) के अन्तर्गत आते हैं, मुख्तारनामे का रजिस्ट्रीकरण अनिवार्य नहीं है । भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 32 और 33 के अधीन भी ऐसे किसी रजिस्ट्रीकरण को वर्जित नहीं किया गया है ।

55. यह अधिनियम केवल दस्तावेजों पर प्रहार करता है न कि संव्यवहारों पर । अधिनियम का सम्पूर्ण उद्देश्य दस्तावेजों को शासित करना है न कि संव्यवहारों को जो उसमें सन्निविष्ट हैं । ऐसा करके केवल जनता का ध्यान खींचा गया है ।

56. **एम. ई. मूला सन्स लिमिटेड (समापनाधीन)** बनाम **शासकीय समनुदेशिती, रंगून और अन्य**[1] वाले मामले में अधिनियम की धारा 17 और धारा 49 पर टिप्पणी करते हुए यह कहा गया था :–

> "इन विभिन्न धाराओं की तुलना करने पर यह मत व्यक्त करना होगा कि हालांकि रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन कुछ दस्तावेजों को धारा 49 में उल्लिखित परिणामों के अध्यधीन रजिस्ट्रीकृत किए जाने की अपेक्षा की गई है, तथापि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 54 में यह अधिनियमित है कि (सीमित अपवाद सहित) स्थावर संपत्ति का विक्रय केवल रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही किया जा सकता है । रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के उपबंध अपने आप में मात्र मौखिक विक्रय को अविधिमान्य बनाने के लिए प्रवर्तित नहीं होंगे । दूसरे शब्दों में, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 17(1) के खंड (ख) में प्रयुक्त यह व्यापक पद 'स्थावर संपत्ति पर या स्थावर संपत्ति में..... कोई हित' दूसरे कानून की धारा 54 में नहीं है ।"

---

[1] ए. आई. आर. 1936 पी. सी. 230.

57. **के. पंचपगेसा अय्यर और एक अन्य** बनाम **के. कल्याण सुंदरम् अय्यर और अन्य**[1] वाला मामला भी देखिए ।

58. **सैयद अब्दुल्ला साहिब** बनाम **सैयद रहमतुल्ला साहिब** उर्फ **बाजी साहिब और अन्य**[2] वाले मामले में इसी प्रकार का मत अपनाया गया है, उसमें यह कथन किया गया है कि:–

> "14.....संपत्ति अंतरण अधिनियम में यह अपेक्षित है कि कुछ संव्यवहारों को रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही प्रभावी बनाया जाना चाहिए । उक्त अधिनियमिति में अन्तर्विष्ट उपबंधों के अलावा, रजिस्टर कराने की बाध्यता केवल रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन ही उद्भूत होती है । पश्चात्कथित अधिनियम के अधीन कुछ विनिर्दिष्ट वर्ग के दस्तावेजों के संबंध में ही रजिस्ट्रीकरण बाध्यकर बनाया गया है, किंतु उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो किसी संव्यवहार को रजिस्ट्रीकृत लिखत द्वारा ही प्रभावी बनाए जाने की अपेक्षा करती हो । रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 17 में वे दस्तावेज दिए गए हैं जिनका रजिस्ट्रीकरण कराया जाना अपेक्षित है ।
>
> उक्त अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता इस बात पर निर्भर करेगी कि वह दस्तावेज क्या है और उसका तात्पर्य क्या है । पक्षकारों के बीच सौदे या ठहराव के अनेक संव्यवहार हो सकते हैं । इस आशय का प्रश्न कि क्या कुछ लिखित रूप में होना चाहिए या कोई रजिस्ट्रीकरण होना चाहिए, प्रत्येक संव्यवहार पर निर्भर करेगा न कि उनके समुच्च्य परिणाम पर ।"

59. इस प्रकार अधिनियम की धारा 22-क अधीनस्थ विधान के माध्यम से उन संव्यवहारों को नियंत्रित नहीं कर सकती जो उसकी परिधि में नहीं आते हैं ।

60. हमने इसमें इसके पूर्व भारतीय संविदा अधिनियम या मुख्तारनामा अधिनियम के अधीन अटर्नी की शक्ति के प्रभाव की अवेक्षा की है । ऐसा कोई अधीनस्थ विधान जो मूलभूत विधि के अधीन किसी भी कानूनी दिशानिर्देश से समर्थित नहीं है और विधिक अधिकार के प्रवर्तन के प्रतिकूल है, हमारी राय में, विधिमान्य नहीं होगा ।

---

[1] ए. आई. आर. 1957 मद्रास 472.

[2] ए. आई. आर. 1960 मद्रास 274.

61. इस प्रश्न पर दूसरे पहलू से विचार किया जा सकता है । हो सकता है किसी व्यक्ति का कोई निकट नातेदार न हो या अन्यथा वह उपरजिस्ट्रार या रजिस्ट्रार के कार्यालय में, जिसकी अधिकारिता के अंतर्गत वह संपत्ति स्थित हो, उपस्थित होने में असमर्थ हो । हो सकता है वह देश से बाहर हो । उसे किसी संसदीय या विधायी अधिनियम में अन्तर्विष्ट किन्हीं मूलभूत उपबंधों के अभाव में अपनी इच्छा से किसी भी रीति में अपनी सम्पत्ति के संबंध में व्यवहार करने से रोका नहीं जा सकता । ऐसा कानूनी निषेध, जैसा कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 300क द्वारा यथा परिकल्पित है किसी के कानूनी अधिकार के प्रतिकूल होगा ।

62. लोक नीति की परिधि और प्रभाव का इस न्यायालय द्वारा भिन्न-भिन्न कारणों में भिन्न-भिन्न अर्थान्वयन किया गया है उदाहरण के लिए, **रेणु सागर पावर कंपनी लिमिटेड** बनाम **जनरल इलेक्ट्रिक कंपनी**[1], तथा **आयल एंड नेचुरल गैस कारपोरेशन लिमिटेड** बनाम **सॉ पाइप्स लिमिटेड**[2] वाले मामले देखिए ।

63. इस प्रकार यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समय निश्चितता के साथ लोक नीति को परिभाषित करना संभव नहीं है । इन विषम बातों से निपटने का काम कार्यपालिका का नहीं है क्योंकि उक्त शक्ति न्यायपालिका के पास है । जब कभी 'लोक नीति' की संकल्पना के निष्कर्ष पर विचार किया जाना अपेक्षित हो तो ऐसा करना न्यायपालिका का काम है और ऐसा करते समय न्यायपालिका की शक्ति भी बहुत सीमित है ।

64. उक्त प्रयोजन के लिए भी, संविदा अधिनियम की धारा 23 में लोक नीति वाले भाग का अर्थान्वयन उसके अन्य भागों को साथ जोड़कर किया जाना चाहिए ।

65. एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि क्या शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, न्यायपालिका के अनन्य क्षेत्राधिकार में अनिवार्यतः जो कुछ है वह कार्यपालिका को प्रत्यायोजित किया जा सकता है जब तक कि उसके पीछे नीति अन्तिम रूप से अधिकथित न हो ।

66. ऐसी कोई चीज जो अपने आप में इतनी अनिश्चित हो, वह किसी भी चीज के लिए मार्गदर्शक नहीं हो सकती अथवा उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कार्यपालिका के लिए उसके अधीन काम

---

[1] (1994) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 644.

[2] (2003) 5 एस. सी. सी. 705.

करने की बाबत पर्याप्त रूपरेखा सुलभ कराती है । विधानमंडल के अनिवार्य कृत्यों को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता और इसका निर्णय संविधान के अनुच्छेद 14 और 246 की कसौटी पर किया जाना चाहिए । इस प्रकार केवल समनुषंगी और प्रक्रियागत शक्तियां ही प्रत्यायोजित की जा सकती हैं न कि अनिवार्य विधायी विषय ।

67. इसमें के अपीलार्थियों की ओर से दी गई यह दलील कि राज्य, जो उच्चतर प्राधिकरण है, अधिनियम की धारा 22-क के निबंधनों के अनुसार घोषणा किए जाने की शक्ति प्रत्यायोजित किए जाने पर उसका दुरुपयोग नहीं करेगा, कथित रूप से नामंजूर की जाती है । ऐसा कोई प्रश्न यहां उद्भूत नहीं होता है क्योंकि इस उपबंध को संविधान के अनुच्छेद 14 और 246 के अधिकारातीत ठहराया गया है ।

68. इस आशय की दलील में भी कि यह न्यायालय नीतिगत विनिश्चय में हस्तक्षेप नहीं करेगा, कोई सार नहीं है । विधायी नीति सांविधानिक समादेशों के उपबंधों के अनुरूप होनी चाहिए । अन्यथा नीतिगत विनिश्चय का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है **सेल्युलर आपरेटर्स एसोसिएशन आफ इंडिया और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] तथा **क्लेरियंट इण्टरनेशनल लिमिटेड और एक अन्य** बनाम **भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड**[2] वाले मामले देखिए ।

69. ऊपरवर्णित कारणों से, हमें इस अपील में कोई सार प्रतीत नहीं होता । अपील तदनुसार खारिज की जाती है । खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है ।

70. जहां तक अन्य राज्यों द्वारा किए गए संशोधनों का संबंध है, हमारी यह राय है कि अधिनियम की धारा 22-क के अधीन निकाली गई किसी अधिसूचना के अनुसरण में किसी दस्तावेज को रजिस्टर करने से इनकार करने संबंधी उप-रजिस्ट्रार या रजिस्ट्रार द्वारा पारित कोई आदेश फिर से नहीं खोला जाएगा ।

अपील खारिज की गई ।

शु./ज.

---

[1] (2003) 3 एस. सी. सी. 186.

[2] (2004) 8 एस. सी. सी. 524.